एल. चन्द्र कुमार आदि आदि

बनाम

भारत संघ एवं अन्य आदि आदि

18 मार्च, 1997

[ए.एम. अहमदी, मुख्य न्यायाधीश, एम.एम. पुंछी, के. रामास्वामी, एस.पी. भरुचा, एस. सगीर अहमद, के. वेंकटस्वामी तथा के.टी. थॉमस, न्यायमूर्तिगण]

भारत का संविधान, 1950 ।

अनुच्छेद 323ए(2)(डी) तथा 323बी(3)(डी) - अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अनुसरण में स्थापित अधिकरण - अधिकारिता - अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन - अभिनिर्धारित, अनुच्छेद 323ए के खंड (2) के उपखंड (डी) तथा अनुच्छेद 323बी के खंड (3) के उपखंड (डी), उस सीमा तक असंवैधानिक हैं जहाँ तक वे अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता तथा अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं।

अनुच्छेद 32, 136 तथा 226/227 - न्यायिक समीक्षा - अभिनिर्धारित, सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय में निहित न्यायिक समीक्षा की शक्ति संविधान की एक अभिन्न तथा अनिवार्य विशेषता है, जो इसकी अक्षुण्ण मूल संरचना का भाग है - अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अनुसरण में सृजित अधिकरण, उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च

न्यायालय की अधिकारिता के अपवर्जन के साथ विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते - वे उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के प्रतिस्थापक के रूप में कार्य नहीं कर सकते - तथापि, वे उस विधायन को छोड़कर, जिसके द्वारा संबंधित अधिकरण की स्थापना की गई है, वैधानिक उपबंधों की विधिमान्यता की परीक्षा करने के लिए सक्षम हैं तथा इस संबंध में अनुपूरक भूमिका का निर्वहन कर सकते हैं किन्तु उनके निर्णय अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता के अधीन होंगे और उनका परीक्षण खंड पीठ द्वारा किया जाएगा - अनुच्छेद 136 के अधीन कोई अपील प्रत्यक्ष रूप से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष संधारणीय नहीं होगी - ये निर्देश भावी प्रभाव से लागू होंगे - वैकल्पिक संस्थागत तंत्र के सिद्धांत का पुनर्विलोकन किया गया।

भावी अध्यारोहण के सिद्धांत की प्रयोज्यता।

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 :

धारा 3(टी), 5(2), 5(6) - अधिकरण - संरचना - अभिनिर्धारित, धारा 5(6) वैध तथा संवैधानिक है - धारा 5 की उपधारा (2) तथा उपधारा (6) का सामंजस्यपूर्ण निर्वचन किया जाना चाहिए - संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए वैधानिक उपबंधों अथवा नियमों की व्याख्या से संबंधित मामलों को कम-से-कम दो सदस्यों वाली पीठ को संदर्भित किया जाएगा, जिनमें से एक न्यायिक सदस्य होना आवश्यक है।

धारा 28 - न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन - अभिनिर्धारित, धारा 28 तथा संविधान के अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अधीन अधिनियमित अन्य सभी विधानों में निहित "अधिकारिता अपवर्जन" उपबंध, जहाँ तक वे संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं, असंवैधानिक हैं - राजस्थान कराधान अधिकरण अधिनियम, 1995 - धारा 14; तमिलनाडु कराधान विशेष अधिकरण अधिनियम, 1992 - धारा 14; तमिलनाडु भूमि सुधार (भूमि पर उच्चतम सीमा का निर्धारण) संशोधन अधिनियम, 1983, यथा तमिलनाडु भूमि सुधार (भूमि पर उच्चतम सीमा का निर्धारण) संशोधन अधिनियम, 1986 द्वारा संशोधित - धारा 77जी; तथा पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण अधिनियम, 1987 - धारा 14 ।

प्रशासनिक विधि :

न्यायिक समीक्षा - संविधान के अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अधीन स्थापित अधिकरण - विधि के अपने-अपने क्षेत्रों में अनुच्छेद 226/227 के अधीन शक्तियों का प्रयोग, उच्च न्यायालयों की अधिकारिता के अपवर्जन के साथ - अभिनिर्धारित, असंवैधानिक - अधिकरण उच्च न्यायालयों के प्रतिस्थापक के रूप में कार्य नहीं कर सकते - इस संबंध में उनकी भूमिका केवल अनुपूरक है - उनके निर्णय उच्च न्यायालय की खंड पीठ के समक्ष परीक्षण के अधीन होंगे - अधिकरणों की कार्यप्रणाली में सुधार हेतु निर्देश प्रदान किए गए।

संविधान में अनुच्छेद 323ए तथा 323बी को 42वें संशोधन द्वारा 1.3.1977 से प्रभावी करते हुए जोड़ा गया था। अनुच्छेद 323ए के अधीन संसद को सेवा संबंधी मामलों का अनन्य रूप से निपटारा करने हेतु प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना के लिए विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई थी। अनुच्छेद 323बी के अधीन संसद तथा राज्य विधानमंडलों को अनुच्छेद 323बी के खंड (2) में विनिर्दिष्ट विषयों से संबंधित विवादों, परिवादों अथवा अपराधों के न्यायनिर्णयन अथवा विचारण के लिए अधिकरणों की व्यवस्था करने वाली विधियाँ अधिनियमित करने की शक्ति प्रदान की गई थी। अनुच्छेद 323ए के खंड (2) के उपखंड (डी) तथा अनुच्छेद 323बी के खंड (3) के उपखंड (डी) में संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर सभी न्यायालयों की अधिकारिता के अपवर्जन का उपबंध किया गया था।

संविधान के अनुच्छेद 323ए(1) द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसरण में संसद ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 अधिनियमित किया, ताकि प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना की जा सके, विभिन्न न्यायालयों के भार को कम किया जा सके तथा प्रशासनिक अधिकरणों के अधिकारक्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों को उनकी शिकायतों के संबंध में शीघ्र अनुतोष प्रदान किया जा सके। अधिनियम की धारा 28 ने संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन कर दिया।

संविधान के अनुच्छेद 323ए की वैधता तथा प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम के उपबंधों को चुनौती देते हुए विभिन्न उच्च न्यायालयों तथा इस न्यायालय के समक्ष बड़ी

संख्या में रिट याचिकाएँ दायर की गईं, क्योंकि इन उपबंधों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन किया गया था। अंततः यह विषय इस न्यायालय की 5 न्यायाधीशों वाली संवैधानिक पीठ द्वारा सुना गया। *(एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ)* [1987] 1 एस.सी.सी. 124)। वाद की लंबितकालीन अवधि के दौरान अधिनियम की धारा 28 में अन्य बातों के साथ संशोधन किया गया ताकि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता को संरक्षित रखा जा सके। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि चुनौती के अधिकांश आधार, जिनमें अनुच्छेद 323 ए की संवैधानिक वैधता को चुनौती भी सम्मिलित थी, शेष नहीं रहे और निर्णय को केवल अधिनियम के उपबंधों की संवैधानिक वैधता तक सीमित रखा। न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि न्यायिक समीक्षा संविधान की एक मूल विशेषता है, तथापि उच्च न्यायालयों से न्यायिक समीक्षा की शक्ति लेकर उसे वैकल्पिक संस्थागत तंत्र में निहित करना संविधान की मूल संरचना का उल्लंघन नहीं करेगा, बशर्ते यह सुनिश्चित किया जाए कि वह वैकल्पिक तंत्र उच्च न्यायालयों का प्रभावी तथा वास्तविक प्रतिस्थापक हो। न्यायालय ने पाया कि अधिनियम प्रभावी प्रतिस्थापक की आवश्यकताओं की कसौटी पर खरा नहीं उतरता और अधिनियम में आगे संशोधन किए जाने का सुझाव दिया।

इस न्यायालय द्वारा *सम्पत कुमार* के वाद में दिए गए निर्णय के पश्चात् संशोधित रूप में विद्यमान प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 के उपबंधों तथा संविधान के अनुच्छेद 323 ए और 323 बी के अधीन प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में, उनमें विनिर्दिष्ट विषयों से संबंधित अधिकरणों की स्थापना हेतु अधिनियमित अन्य समरूप विधानों का इस न्यायालय तथा

विभिन्न उच्च न्यायालयों के *परवर्ती* निर्णयों में विश्लेषण किया गया। इन निर्णयों में अधिकरणों की अधिकारिता, संरचना तथा कार्यप्रणाली से संबंधित प्रश्न सम्मिलित थे और इन्हीं के परिणामस्वरूप वर्तमान अपीलें तथा रिट याचिकाएँ सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष दायर की गईं।

1989 की दीवानी अपील संख्या 481 से उद्भूत वाद में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 5(6) की वैधता का प्रश्न सम्मिलित था, जबकि 1994 की दीवानी अपील संख्या 169, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ के उस निर्णय के विरुद्ध दायर की गई थी, जिसमें संविधान के अनुच्छेद 323ए(2)(डी) को उस सीमा तक असंवैधानिक घोषित किया गया था, जहाँ तक वह संसद को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन करने की शक्ति प्रदान करता था। प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 28 को भी उस सीमा तक असंवैधानिक अभिनिर्धारित किया गया था, जहाँ तक उसने सेवा संबंधी मामलों में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का विनिवेश कर दिया था। 1993 की दीवानी अपील संख्या 1532-33, कलकत्ता उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध दायर की गई थीं, जिसमें पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण अधिनियम, 1987 की धारा 14 को असंवैधानिक घोषित किया गया था। 1991 की विशेष अनुमति याचिका संख्या 17768, मद्रास उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध दायर की गई थी, जिसमें अभिनिर्धारित किया गया था कि तमिलनाडु भूमि सुधार (भूमि पर उच्चतम सीमा का निर्धारण) संशोधन अधिनियम, 1985 के अधीन स्थापित तमिलनाडु भूमि सुधार विशेष अपीली अधिकरण, मद्रास उच्च न्यायालय की रिट

जारी करने की शक्तियों को प्रभावित नहीं करेगा। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि राज्य विधानमंडल को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति तथा संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उसकी अधीक्षण शक्ति का अतिक्रमण करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। अन्य वादों में भी इसी प्रकार के प्रश्न सम्मिलित थे। अंततः, इस न्यायालय की एक खंड पीठ ने यह अनुभव किया कि *सम्पत कुमार बनाम भारत संघ,* [1987] 1 एस.सी.सी. 124 में दिए गए निर्णय पर व्यापक पुनर्विलोकन अपेक्षित है और इस विषय को एक बड़ी पीठ को संदर्भित किया जाना चाहिए। परिणामस्वरूप, यह विषय सात न्यायाधीशों की पीठ को संदर्भित किया गया।

दीवानी अपीलों तथा रिट याचिकाओं में निजी पक्षकारों की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय में तथा अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों में निहित न्यायिक समीक्षा की शक्ति, संविधान की मूल संरचना का भाग होने के कारण, अनुच्छेद 323ए(2)(डी) तथा अनुच्छेद 323बी(3)(डी) के वे उपबंध, जो संसद अथवा राज्य विधानमंडल को क्रमशः अनुच्छेद 32 तथा अनुच्छेद 226/227 के अधीन इस न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन करने वाली विधि अधिनियमित करने की अनुमति प्रदान करते हैं, असंवैधानिक हैं; कि प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 5 की उपधारा (6), जहाँ तक वह किसी अधिकरण की एकल सदस्यीय पीठ को किसी वैधानिक उपबंध की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने की अनुमति प्रदान करती है, असंवैधानिक है; कि प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 28 तथा संविधान के अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अधीन प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में अधिनियमित अन्य विधानों के समरूप उपबंध, जो संविधान के

अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की शक्ति का विनिवेश करते हैं, असंवैधानिक हैं; तथा यह कि अधिकरण, उनकी स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले संवैधानिक संरक्षणों से वंचित होने के कारण, उच्च न्यायालयों के प्रभावी प्रतिस्थापक बनने में असमर्थ हैं।

भारत संघ तथा संबंधित राज्य सरकारों की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को वैकल्पिक संस्थागत तंत्र की स्थापना द्वारा प्रतिस्थापित करने का प्रयास किया गया था, किन्तु इस न्यायालय के निर्णयों के आलोक में, इस न्यायालय की अधिकारिता संविधान की मूल संरचना का निर्विवाद भाग है और यह माना जाना चाहिए कि संसद इस स्थिति से अवगत थी, इसलिए यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारिता को प्रभावित करने का आशय नहीं था। वैकल्पिक रूप से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि अनुच्छेद 323ए तथा 323बी, उच्च न्यायालयों की अपनी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर स्थित सभी अधिकरणों पर अधीक्षण संबंधी अधिकारिता का अपवर्जन नहीं करते हैं। यह भी प्रस्तुत किया गया कि यद्यपि प्रशासनिक अधिकरण अपेक्षाओं के अनुरूप सिद्ध नहीं हुए हैं, तथापि उच्च न्यायालयों में लंबित वादों के अत्यधिक भार तथा कार्य की अत्यधिक वृद्धि को दृष्टिगत रखते हुए, आक्षेपित संवैधानिक उपबंधों को असंवैधानिक घोषित करना समस्या का समाधान करने के स्थान पर उसे और अधिक गंभीर बना देगा और इसलिए भारत संघ तथा संबंधित राज्यों को संबंधित उपबंधों में और संशोधन करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अधिकरण प्रभावी वैकल्पिक मंच बन सकें।

इन वादों का निपटारा करते हुए, इस न्यायालय ने

अभिनिर्धारित किया : 1.1 संविधान के अनुच्छेद 323ए के खंड (2) के उपखंड (डी) तथा अनुच्छेद 323बी के खंड (3) के उपखंड (डी), जहाँ तक वे संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं, असंवैधानिक हैं। [1250-ए]

साकिनाला हरिनाथ एवं अन्य बनाम आंध्र प्रदेश राज्य एवं अन्य, **(1993) 2 ए.एन.डब्ल्यू.आर. 484 - अनुमोदित।**

1.2 संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों में तथा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस न्यायालय में निहित विधायी कार्रवाई पर न्यायिक समीक्षा की शक्ति, संविधान की एक अभिन्न तथा अनिवार्य विशेषता है और इसकी अक्षुण्ण मूल संरचना का भाग है। अतः सामान्यतः विधानों की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने की उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति का न तो अपवर्जन किया जा सकता है और न ही उसे समाप्त किया जा सकता है। [1237-डी-ई]

एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ, **[1987] 1 एस.सी.सी. 124 - विनिर्णयित।**

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, **[1973] 4 एस.सी.सी. 225;** *फर्टिलाइज़र कॉर्पोरेशन कामगार यूनियन बनाम भारत संघ,* **[1981] 1 एस.सी.सी. 568 तथा** *प्रतिभा बनर्जी बनाम भारत संघ,* **[1995] 6 एस.सी.सी. 765 - अवलंबित।**

1964 की विशेष संदर्भ संख्या 1 **, [1965] 1 एस.सी.आर. 413;** *इन्दिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण,* **[1975] अनुपूरक एस.सी.सी. 1;** *मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ,* **[1980] 3 एस.सी.सी. 625;** *किहोटो होल्लोहन बनाम जाचिल्लू एवं अन्य*, **[1992] अनुपूरक 2 एस.सी.सी. 651;** *दिल्ली न्यायिक सेवा संघ बनाम गुजरात राज्य*, **[1991] 4 एस.सी.सी. 406;** *बीड़ी सप्लाई कम्पनी बनाम भारत संघ एवं अन्य*, **[1956] एस.सी.आर. 267;** *मद्रास राज्य बनाम वी.जी. राव,* **[1952] एस.सी.आर. 597 तथा** *किहोटो होल्लोहन बनाम जाचिल्लू एवं अन्य*, **[1992] 1 एस.सी.आर. 686 - संदर्भित।**

मारबरी बनाम मैडिसन, **1 क्रैन्च 137 (1803) – संदर्भित।**

नेशनल मुगल इंश्योरेंस कम्पनी ऑफ द डिस्ट्रिक्ट ऑफ कोलम्बिया बनाम टाइडवाटर ट्रांसफर कम्पनी, **93 एल.एड. 1156 = 337 यू.एस. 582;** *थॉमस एस. विलियम्स बनाम संयुक्त राज्य अमेरिका,* **77 एल.एड. 1372 = 289 यू.एस. 553;** *कूपर बनाम आरोन,* **3 एल.एड. 2डी 5 = 358 यू.एस. 1;** *नॉर्दर्न पाइपलाइन कंस्ट्रक्शन कम्पनी बनाम मैराथन पाइपलाइन कम्पनी एवं संयुक्त राज्य अमेरिका,* **73 एल.एड. 2डी 59 = 458 यू.एस. 50 - उद्धृत।**

संविधान सभा वाद-विवाद, खंड V आईआई, **पृष्ठ 953 - संदर्भित।**

हेनरी जे. अब्राहम, *द ज्यूडिशियल प्रोसेस,* **चतुर्थ संस्करण, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1980), पृष्ठ 296;** *द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन : कॉर्नर-स्टोन ऑफ ए नेशन* **–ग्रैनविल ऑस्टिन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1972 - संदर्भित।**

1.3 उच्च न्यायालय में अपनी-अपनी अधिकारिता के भीतर स्थित सभी न्यायालयों तथा अधिकरणों के निर्णयों पर न्यायिक अधीक्षण की शक्ति भी संविधान की मूल संरचना का भाग है। इसका कारण यह है कि ऐसी स्थिति, जिसमें उच्च न्यायालयों को संवैधानिक निर्वचन के कार्य को छोड़कर अन्य सभी न्यायिक कार्यों से वंचित कर दिया जाए, समान रूप से परिहार्य है। [1237-एफ]

1.4 हमारा संविधान यह सुनिश्चित करता है कि न्यायपालिका न्यायिक समीक्षा की अपनी व्यापक शक्तियों का प्रभावी रूप से निर्वहन करने में सक्षम रहे। जहाँ संविधान उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को विधियों को असंवैधानिक घोषित करने की शक्ति प्रदान करता है, वहीं उसमें न्यायाधीशों के कार्यकाल, वेतन, भत्तों, सेवानिवृत्ति आयु तथा उच्चतर न्यायालयों के न्यायाधीशों के चयन की प्रक्रिया से संबंधित विस्तृत उपबंध भी सम्मिलित हैं। ऐसे विस्तृत उपबंधों का समावेश इस विश्वास के कारण प्रतीत होता है कि इन

उपबंधों से सुसज्जित होने पर उच्चतर न्यायालय कार्यपालिका अथवा विधायिका द्वारा उनके निर्णयों को प्रभावित करने के किसी भी प्रयास से संरक्षित रहेंगे। [1236-एफ-जी; 1237-ए]

1.5 वे संवैधानिक संरक्षण, जो उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता सुनिश्चित करते हैं, अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायाधीशों अथवा साधारण विधानों द्वारा सृजित अधिकरणों में कार्यरत व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हैं। परिणामस्वरूप, उत्तरवर्ती श्रेणी के न्यायाधीशों को संवैधानिक निर्वचन के कार्य के निर्वहन में उच्चतर न्यायपालिका का पूर्ण तथा प्रभावी प्रतिस्थापक कभी नहीं माना जा सकता। [1237-डी]

एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ, [1987] 1 एस.सी.सी. 124 तथा जे.बी. चोपड़ा बनाम भारत संघ, [1987] 1 एस.सी.सी. 422 - विनिर्णयित।

आर.के. जैन बनाम भारत संघ, [1993] 4 एस.सी.सी. 119 - पुष्ट किया गया।

एम.बी. मजूमदार बनाम भारत संघ, [1990] 4 एस.सी.सी. 501 - संदर्भित।

2.1 प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 28 तथा संविधान के अनुच्छेद 323ए और 323बी के अधीन अधिनियमित अन्य सभी विधानों में निहित "अधिकारिता के अपवर्जन" संबंधी उपबंध, जहाँ तक वे संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन

उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं, असंवैधानिक हैं। [1250-ए-बी]

साकिनाला हरिनाथ एवं अन्य बनाम आंध्र प्रदेश राज्य एवं अन्य, **(1993) 2 ए.एन.डब्ल्यू.आर. 484 - अनुमोदित।**

एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ, **[1987] 1 एस.सी.सी. 124 - विनिर्णयित।**

2.2 प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 5(6) वैध तथा संवैधानिक है। धारा 5 की उपधारा (2) तथा उपधारा (6) का सामंजस्यपूर्ण निर्वचन किया जाना है। जहाँ प्रशासनिक अधिकरण की एकल सदस्यीय पीठ के समक्ष किसी वैधानिक उपबंध अथवा नियम के संविधान के संबंध में निर्वचन से संबंधित कोई प्रश्न विचारार्थ उत्पन्न होता है, वहाँ धारा 5(6) का परंतुक स्वतः लागू होगा तथा अध्यक्ष अथवा संबंधित सदस्य उस विषय को कम से कम दो सदस्यों वाली पीठ को संदर्भित करेगा, जिनमें से एक न्यायिक सदस्य होना अनिवार्य होगा। इससे यह सुनिश्चित होगा कि किसी वैधानिक उपबंध अथवा नियम की विधिमान्यता से संबंधित प्रश्न का न्यायनिर्णयन कभी भी किसी एकल सदस्यीय पीठ अथवा ऐसी पीठ द्वारा नहीं किया जाएगा जिसमें कोई न्यायिक सदस्य न हो। इस प्रकार निर्वचित किए जाने पर धारा 5(6) पर असंवैधानिकता का आरोप नहीं लगाया जा सकेगा। [1250-ई; 1249-ई-जी]

डॉ. महाबल राम बनाम भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, **[1994] 2 एस.सी.सी. 401 तथा** *अमुल्या चन्द्र कलिता बनाम भारत संघ,* **[1991] 1 एस.सी.सी. 181 - पुष्ट किया गया।**

3.1 संविधान के अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अधीन सृजित अधिकरण उन मामलों की सुनवाई करने के लिए सक्षम हैं जिनमें वैधानिक उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती दी जाती है तथा वे संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के निर्वहन में अनुपूरक भूमिका का निर्वहन कर सकते हैं। तथापि, इस दायित्व का निर्वहन करते समय वे उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के प्रतिस्थापक के रूप में कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि हमारी संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत विशेष रूप से ऐसा दायित्व उन्हीं को सौंपा गया है। इस संबंध में उनकी भूमिका केवल अनुपूरक है तथा अधिकरणों के ऐसे सभी विनिश्चय संबंधित उच्च न्यायालयों की खंड पीठ के समक्ष परीक्षण के अधीन होंगे। परिणामस्वरूप, अधिकरणों को अधीनस्थ विधान तथा नियमों की विधिमान्यता की परीक्षा करने की शक्ति भी प्राप्त होगी। [1246-जी; 1250-सी; 1246-जी-एच; 1247-ए]

3.2 यह विशेष रूप से रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि यद्यपि अधीनस्थ न्यायपालिका अथवा साधारण विधानों के अधीन सृजित अधिकरण, उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को अपवर्जित करके विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते, तथापि इस संबंध में उनके द्वारा प्रतिस्थापनात्मक भूमिका के विपरीत अनुपूरक भूमिका का निर्वहन किए जाने पर कोई संवैधानिक निषेध नहीं है। ऐसी स्थिति का

संवैधानिक योजना के अंतर्गत परिकल्पित होना संविधान के अनुच्छेद 32 के खंड (3) से स्पष्ट होता है। [1237-जी-एच; 1238-ए]

3.3 यह अभिनिर्धारित करना कि अधिकरणों को संवैधानिक प्रश्नों से संबंधित मामलों का निर्णय करने की कोई शक्ति नहीं है, उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करेगा जिसके लिए उनकी स्थापना की गई थी। दूसरी ओर, यह अभिनिर्धारित करना कि ऐसे सभी विनिश्चय संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उस उच्च न्यायालय की खंड पीठ की अधिकारिता के अधीन होंगे, जिसकी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर संबंधित अधिकरण स्थित है, दो उद्देश्यों की पूर्ति करेगा। संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों में निहित विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति को संरक्षित रखने के साथ-साथ यह भी सुनिश्चित करेगा कि तुच्छ दावे अधिकरण में न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया के माध्यम से छँट जाएँ। उच्च न्यायालय को गुण-दोष के आधार पर दिए गए कारणयुक्त विनिश्चय का लाभ भी प्राप्त होगा, जो विषय के अंतिम निर्णय में उसके लिए उपयोगी होगा। [1245-ई-जी]

4.1 तथापि, जिन विधि क्षेत्रों के लिए अधिकरणों का गठन किया गया है, उन क्षेत्रों के संबंध में वे प्रथम दृष्टया एकमात्र न्यायालय के रूप में कार्य करते रहेंगे। वादकारियों के लिए यह खुला नहीं होगा कि वे संबंधित अधिकरण की अधिकारिता की उपेक्षा करते हुए प्रत्यक्ष रूप से उच्च न्यायालयों का दरवाजा खटखटाएँ, यहाँ तक कि उन मामलों में भी जहाँ वे वैधानिक विधानों की विधिमान्यता को चुनौती देते हों। अपवाद केवल वह स्थिति होगी जहाँ उस विधान को ही चुनौती दी जाए जिसके द्वारा संबंधित अधिकरण की स्थापना की गई है। [1247-सी-डी]

4.2 अधिकरण अपने मूल अधिनियमों की विधिमान्यता से संबंधित किसी प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे, क्योंकि यह सुस्थापित सिद्धांत है कि कोई अधिकरण, जो किसी अधिनियम की सृष्टि है, उसी अधिनियम को असंवैधानिक घोषित नहीं कर सकता। केवल ऐसे मामलों में संबंधित उच्च न्यायालय का प्रत्यक्ष रूप से अभिगमन किया जा सकेगा। इन अधिकरणों के अन्य सभी विनिश्चय, जो उनके मूल अधिनियमों द्वारा विशेष रूप से उन्हें न्यायनिर्णयन हेतु प्रदत्त अधिकार के अंतर्गत दिए गए हैं, भी संबंधित उच्च न्यायालयों की खंड पीठ द्वारा परीक्षण के अधीन होंगे। [1247-ए-सी]

5.1 संविधान के अनुच्छेद 323ए अथवा अनुच्छेद 323बी के अनुसरण में सृजित सभी अधिकरणों के विनिश्चय, संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता के अधीन होंगे और उनका परीक्षण उस उच्च न्यायालय की खंड पीठ द्वारा किया जाएगा जिसकी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर संबंधित अधिकरण स्थित है। [1246-सी-डी]

5.2 किसी अधिकरण के विनिश्चय के विरुद्ध कोई अपील संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन प्रत्यक्ष रूप से सर्वोच्च न्यायालय में नहीं जाएगी। इसके स्थान पर व्यथित पक्षकार संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय का अभिगमन करने का अधिकारी होगा तथा उच्च न्यायालय की खंड पीठ के विनिश्चय के विरुद्ध व्यथित पक्षकार

संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस न्यायालय का अभिगमन कर सकेगा। [1246-ई-एफ]

5.3 तथापि, अधिकरणों के विनिश्चयों को संबंधित उच्च न्यायालयों की खंड पीठ द्वारा परीक्षणीय बनाए जाने संबंधी जारी निर्देश भावी प्रभाव से लागू होंगे अर्थात् वे भविष्य में दिए जाने वाले विनिश्चयों पर लागू होंगे। न्यायिक कार्यवाहियों की पवित्रता बनाए रखने के लिए भावी विनिर्णयन के सिद्धांत (प्रॉस्पेक्टिव ओवररूलिंग) का आह्वान किया जाता है, ताकि पूर्व में दिए जा चुके विनिश्चयों से संबंधित प्रक्रिया विचलित न हो। [1247-डी-ई]

6.1 यद्यपि विभिन्न अधिकरण अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य निष्पादन नहीं कर सके हैं, तथापि यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि उनका असंतोषजनक कार्य निष्पादन इस बात का संकेत है कि उनकी स्थापना किसी मौलिक रूप से अविवेकपूर्ण सिद्धांत पर आधारित है। जिन कारणों से अधिकरणों की स्थापना की गई थी, वे अब और भी अधिक प्रबल हो गए हैं। हमारी संवैधानिक व्यवस्था ऐसे अधिकरणों की स्थापना की अनुमति प्रदान करती है। तथापि, उनके स्तर को उन्नत करने के लिए कठोर उपायों का सहारा लिया जाना आवश्यक हो सकता है, ताकि उन्हें प्रदत्त न्यायिक समीक्षा की शक्ति के निर्वहन में वे संवैधानिक परीक्षण की कसौटी पर खरे उतर सकें। [1244-जी-एच; 1245-ए-बी]

के.के. दत्ता बनाम भारत संघ, [1980] 4 एस.सी.सी. 38 - संदर्भित।

6.2 अधिकरणों की स्थापना इस आधार पर की गई है कि प्रशिक्षित प्रशासकों तथा न्यायिक अनुभव रखने वाले व्यक्तियों से युक्त विशेषज्ञ निकाय, अपने विशिष्ट ज्ञान के कारण, त्वरित तथा प्रभावी न्याय प्रदान करने के लिए अधिक सक्षम होंगे। यह अपेक्षा की गई थी कि न्यायिक सदस्यों तथा जमीनी स्तर के अनुभव रखने वाले व्यक्तियों का विवेकपूर्ण समन्वय इस उद्देश्य की सर्वश्रेष्ठ पूर्ति करेगा। यह अभिनिर्धारित करना कि अधिकरण केवल न्यायिक सदस्यों से ही गठित होना चाहिए, उस सिद्धांत के मूल आधार पर आघात होगा जिसके अनुसरण में उनकी स्थापना की गई है। चूँकि अब चयन समिति का अध्यक्ष भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित सर्वोच्च न्यायालय का एक न्यायमूर्ति होता है, इसलिए समिति यह सुनिश्चित करेगी कि प्रशासनिक सदस्यों का चयन ऐसे व्यक्तियों में से किया जाए जिन्हें ऐसे मामलों से निपटने का कुछ अनुभव अथवा पृष्ठभूमि प्राप्त हो। [1248-ए-सी]

7. हमारी संवैधानिक व्यवस्था यह अपेक्षा नहीं करती कि सभी न्यायनिर्णायक निकाय, जो उच्च न्यायालयों की प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर आते हैं, उनकी अधीक्षण अधिकारिता के अधीन हों। यदि उद्देश्य उच्च न्यायालयों को उनके अत्यधिक भार से मुक्त करना है, तो उनके अधीक्षण संबंधी कार्यों में वृद्धि करना किसी भी प्रकार से उनकी सहायता नहीं कर सकता। वर्तमान स्थिति यह है कि विभिन्न अधिनियमों के अधीन गठित विभिन्न अधिकरणों का प्रशासन, केंद्र तथा राज्य सरकारों के भिन्न-भिन्न प्रशासनिक विभागों द्वारा किया जाता है। भारत संघ को यह सुनिश्चित करने हेतु पहल करनी चाहिए कि इन सभी अधिकरणों को किसी एक नोडल विभाग के अधीन लाया जाए, अधिमानतः विधि विभाग के अधीन। अधिकरणों में नियुक्तियों तथा उनके प्रशासनिक कार्यों के अधीक्षण के प्रश्न पर

विस्तृत विचार किए जाने की आवश्यकता है। भारत के विधि आयोग तथा मलिमथ समिति जैसे विशेषज्ञ निकायों की टिप्पणियों को ध्यान में रखा जाना चाहिए तथा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि ऐसे सभी अधिकरणों के सदस्यों की स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे। [1248-ई-एच; 1249-सी-ई]

उच्च न्यायालय लंबित वाद समिति प्रतिवेदन, 1949; न्यायिक प्रशासन में सुधार पर भारत के विधि आयोग की 14वीं प्रतिवेदन, 1958; दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 पर भारत के विधि आयोग की 27वीं प्रतिवेदन, 1964; दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 पर भारत के विधि आयोग की 41वीं प्रतिवेदन, 1969; दीवानी प्रक्रिया संहिता, 1908 पर भारत के विधि आयोग की 54वीं प्रतिवेदन, 1973; उच्चतर न्यायपालिका की संरचना तथा अधिकारिता पर भारत के विधि आयोग की 57वीं प्रतिवेदन, 1974; उच्च न्यायालय लंबित वाद समिति प्रतिवेदन, 1972; उच्च न्यायालयों तथा अन्य अपीली न्यायालयों में विलंब तथा लंबित वादों पर भारत के विधि आयोग की 79वीं प्रतिवेदन, 1979; उच्चतर न्यायालयों में मौखिक बहस तथा लिखित बहस पर भारत के विधि आयोग की 99वीं प्रतिवेदन, 1984; सतीश चन्द्र समिति प्रतिवेदन, 1986; उच्च न्यायालयों में लंबित वादों पर एक नवीन दृष्टिकोण विषयक भारत के विधि आयोग की 124वीं प्रतिवेदन, 1988 तथा लंबित वाद समिति प्रतिवेदन, 1989-90 – उद्धृत।

दीवानी अपीली अधिकारिता : 1980 की दीवानी अपील संख्या 481 आदि

1988 की रिट याचिका संख्या 8673 में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 2.11.1988 को पारित निर्णय एवं आदेश से।

वी.आर. रेड्डी, के.एन. भट्ट तथा अल्ताफ अहमद, अपर महान्यायाभिकर्तागण, रामा जोइस, डॉ. शंकर घोष, डॉ. डी.पी. पाल, सुन्दरानन्द पाल, के.के. वेणुगोपाल, बी. सेन, एन.एस. हेगड़े, तपस राय, एम.एल. वर्मा, पी.पी. राव, शांति भूषण, ए.के. गांगुली, एस. रामचन्द्र राव, यू.एन. बछावत, कपिल सिब्बल, वरिष्ठ अधिवक्तागण, एस.आर. भट्ट, एन.आर. नाथ, एल.एम. भट्ट, हेतु अरोड़ा, वी. बालाचन्द्रन, जी.एस. चटर्जी, एस. पाल, राजा चटर्जी, आर.के. गुप्ता, एच.पी. शर्मा, राजेश, ए.टी. पात्रा, एस. श्रीवास्तव, एम.ए. कृष्णमूर्ति, जे.बी. रानी, पी. मुरुगन, जी.एस. चटर्जी, राजा चटर्जी, सुश्री अरुणा मुखर्जी, एस. रिज़वी, डी. कृष्णा, के.के. साहा, जे.आर. दास, सुमन खेतान, दर्शन सिंह, राणा मुखर्जी, गुडविल इन्दीवर, बी.के. घोष, एस. मुखर्जी, बिजोन घोष, टी. अनिल कुमार, डी. महेश बाबू, ए. बालाजी, कुमार जे. बेय, जयन्त भूषण, दर्शन सिंह, सुमन जे. खेतान, (किरण के. शाह - स्वयं उपस्थित, संख्या 2); एन.एन. गोस्वामी, श्रीमती अनिल कटियार, सुश्री ए. सुभाषिणी, ए.डी.एन. राव, वसीम ए. कादरी, दिलीप टंडन, एस. मंडल, मनीष मिश्रा, पी. महाले, के.के. साहा, दयान कृष्णन, जे.आर. दास, डी. रामकृष्ण रेड्डी, श्रीमती डी. भारती रेड्डी, एस.के. मेहता, ध्रुव मेहता, फज़लिन अनाम, सुश्री मोनिका जयरथ, एम.पी. राजू, मनमोहन, टी.यू. राजन, एल.जे. वडक्करा, रथिन दास, एस. मुरलीधर, राणा, सुश्री सुचरिता मुखर्जी, (प्रवीर चौधरी, के.के. मणि, सुश्री रानी छाबड़ा, टी.वी.एस.एन. चारी, आर.के. मेहता), सिन्हा दास एंड कम्पनी, सुश्री लिली थॉमस, अनिप सचदेव, सुश्री मृदुला राय भारद्वाज, ए. भट्टाचार्जी, उपस्थित पक्षकारों की ओर से।

न्यायालय का निर्णय निम्नलिखित द्वारा प्रदत्त किया गया :

अहमदी, मुख्य न्यायाधीश। हमारे समक्ष प्रस्तुत विशेष अनुमति याचिकाओं, दीवानी अपीलों तथा रिट याचिकाओं के वर्तमान समूह का उद्गम विभिन्न उच्च न्यायालयों के पृथक-पृथक विनिश्चयों तथा विभिन्न अधिनियमों के अनेक उपबंधों से हुआ है, जिन्हें चुनौती का विषय बनाया गया है। यद्यपि इनके मध्य अनेक पृथक विधिक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, तथापि इन सभी को एक साथ समूहीकृत किया गया है क्योंकि इन सभी में निम्नलिखित व्यापक प्रश्नों पर विचार अपेक्षित है

(1) क्या संविधान के अनुच्छेद 323ए के खंड (2) के उपखंड (डी) अथवा संविधान के अनुच्छेद 323बी के खंड (3) के उपखंड (डी) द्वारा संसद अथवा, यथास्थिति, राज्य विधानमंडलों को प्रदत्त वह शक्ति, जिसके द्वारा अनुच्छेद 323ए के खंड (1) में निर्दिष्ट विवादों तथा परिवादों अथवा अनुच्छेद 323बी के खंड (2) में विनिर्दिष्ट सभी अथवा किसी विषय के संबंध में, अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर 'सभी न्यायालयों' की अधिकारिता का पूर्णतः अपवर्जन किया जा सकता है, संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय को प्रदत्त न्यायिक समीक्षा की शक्ति के प्रतिकूल है?

(2) क्या संविधान के अनुच्छेद 323 ए अथवा अनुच्छेद 323 बी के अधीन गठित अधिकरणों को किसी वैधानिक उपबंध अथवा नियम की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने की क्षमता प्राप्त है?

(3) क्या ये अधिकरण, अपनी वर्तमान कार्यप्रणाली के अनुसार, न्यायिक समीक्षा की शक्ति के निर्वहन में उच्च न्यायालयों के प्रभावी प्रतिस्थापक कहे जा सकते हैं? यदि नहीं, तो उन्हें उनके स्थापना-उद्देश्यों के अनुरूप बनाने के लिए किन परिवर्तनों की आवश्यकता है?

हम इन वादों के वर्तमान समूह में उठाए गए व्यापक प्रश्नों तक ही स्वयं को सीमित रखेंगे और प्रत्येक वाद के विशिष्ट तथ्यों का उल्लेख नहीं करेंगे। तथापि, हमारे समक्ष विद्यमान विवाद में निहित नीतिगत टकरावों को समझने तथा विवाद की सीमाओं का निर्धारण करने के लिए, जहाँ आवश्यक होगा वहाँ हम चुनिंदा रूप से कुछ आक्षेपित विनिश्चयों तथा संबंधित उपबंधों का उल्लेख करेंगे। इस निर्णय में प्रतिपादित व्यापक सिद्धांतों को बाद में एक खंड पीठ द्वारा प्रत्येक व्यक्तिगत वाद में सम्मिलित विवादों के समाधान हेतु लागू किया जाएगा।

वर्तमान विवाद को इस न्यायालय की एक खंड पीठ द्वारा पारित आदेश के माध्यम से हमारे समक्ष संदर्भित किया गया है, जो [1995] 1 एस.सी.सी. 400 में प्रतिवेदित है, जिसमें यह निष्कर्ष निकाला गया था कि *एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ,* [1987] 1 एस.सी.सी. 124 में इस न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों वाली संवैधानिक पीठ द्वारा दिए गए निर्णय पर व्यापक पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है। खंड पीठ का दिनांक 2 दिसम्बर,

1994 का आदेश हमारे समक्ष प्रस्तुत प्रथम वाद अर्थात् 1989 की दीवानी अपील संख्या 481 में तर्कों पर विचार करने के पश्चात् पारित किया गया था, जिसमें प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 5(6) की वैधता को चुनौती दी गई है। प्रासंगिक संवैधानिक उपबंधों तथा *सम्पत कुमार के वाद* में निर्णय दिए जाने की पृष्ठभूमि में उत्पन्न परिस्थितियों का विश्लेषण करने के पश्चात् संदर्भित करने वाली पीठ इस निष्कर्ष पर पहुँची कि *सम्पत कुमार के वाद* के पश्चात् इस न्यायालय द्वारा विनिर्णीत वादों की एक श्रृंखला में व्यक्त परस्पर भिन्न दृष्टिकोणों के कारण उत्पन्न स्थिति ऐसी है कि "इस न्यायालय द्वारा *सम्पत कुमार के वाद* में विनिर्णीत सभी प्रश्नों पर, जिनमें यह प्रश्न भी सम्मिलित है कि यदि किसी अधिकरण को किसी अधिनियम अथवा संविधान के अनुच्छेद 309 के अधीन बनाए गए नियम की संवैधानिक वैधता का निर्णय करने की शक्ति प्राप्त हो, तो क्या उसकी पीठ में प्रशासनिक सदस्य हो सकता है, जैसा कि *चोपड़ा के वाद* में स्वीकार किया गया था, एक बड़ी पीठ द्वारा पुनः व्यापक दृष्टि से विचार किया जाना अपेक्षित है।" वे "सम्पत कुमार के पश्चात् के वाद", जिनके कारण खंड पीठ ने वर्तमान विषय को हमारे समक्ष संदर्भित किया, निम्नलिखित हैं : *जे.बी. चोपड़ा बनाम भारत संघ,* [1987] 1 एस.सी.सी. 422; *एम.बी. मजूमदार बनाम भारत संघ,* [1990] 4 एस.सी.सी. 501; *अमूल्य चन्द्र कलिता बनाम भारत संघ,* [1991] 1 एस.सी.सी. 181; *आर.के. जैन बनाम भारत संघ,* [1993] 4 एस.सी.सी. 119 तथा *डॉ. महाबल राम बनाम भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद,* [1994] 2 एस.सी.सी. 401

हमारे समक्ष उपस्थित विद्वान अधिवक्ताओं के तर्कों का अभिलेखन करने से पूर्व, वर्तमान वाद से संबंधित विधिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

संविधान का भाग XIVA (बयालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 46 द्वारा दिनांक 1 मार्च, 1977 से संविधान में जोड़ा गया था। इसमें दो उपबंध अर्थात् अनुच्छेद 323ए तथा अनुच्छेद 323बी सम्मिलित हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से नीचे पूर्ण रूप से उद्धृत किया जा रहा है :

भाग XIVA

अधिकरण

323ए - *प्रशासनिक अधिकरण* –(1) संसद, विधि द्वारा, संघ के लिए एक प्रशासनिक अधिकरण तथा दो या दो से अधिक राज्यों के लिए पृथक प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना का उपबंध कर सकेगी, जिससे लोक सेवाओं तथा पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती तथा सेवा शर्तों से संबंधित विवादों और शिकायतों का प्रशासनिक अधिकरणों द्वारा न्यायनिर्णयन अथवा विचारण किया जा सके, चाहे वे सेवाएँ अथवा पद संघ, किसी राज्य, किसी स्थानीय अथवा

323बी - *अन्य विषयों के लिए अधिकरण*--- (1) समुचित विधानमंडल, विधि द्वारा, खंड (2) में विनिर्दिष्ट उन विषयों के संबंध में, जिन पर वह विधियाँ बनाने के लिए सक्षम है, विवादों, शिकायतों अथवा अपराधों के न्यायनिर्णयन अथवा विचारण के लिए अधिकरणों की स्थापना का उपबंध कर सकेगा।

अन्य प्राधिकरण अथवा भारत सरकार के नियंत्रणाधीन किसी निगम से संबंधित हों।

(2)	*खंड (1) के अधीन बनाई गई विधि -*	(2)	(2) खंड (1) में निर्दिष्ट विषय निम्नलिखित हैं अर्थात् -
(ए)	संघ के लिए एक प्रशासनिक अधिकरण तथा प्रत्येक राज्य के लिए अथवा दो या दो से अधिक राज्यों के लिए पृथक प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना का उपबंध कर सकेगी।	(ए)	किसी कर का अधिरोपण, निर्धारण, संग्रहण तथा प्रवर्तन।
(बी)	उक्त अधिकरणों में से प्रत्येक की अधिकारिता, शक्तियाँ (न्यायालय की अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति सहित) तथा प्राधिकार विनिर्दिष्ट कर सकेगी।	(बी)	विदेशी विनिमय, आयात तथा सीमाशुल्क सीमाओं के आर-पार निर्यात।
(सी)	उक्त अधिकरणों द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया (जिसमें परिसीमा तथा साक्ष्य के नियमों से संबंधित उपबंध सम्मिलित हैं) का उपबंध कर सकेगी।	(सी)	औद्योगिक तथा श्रम विवाद।
(डी)	*अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर, खंड (1) में निर्दिष्ट*	**(डी)**	अनुच्छेद 31ए में परिभाषित किसी संपदा का राज्य द्वारा अधिग्रहण करके भूमि सुधार, अथवा उसमें निहित

विवादों अथवा शिकायतों के संबंध में सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन कर सकेगी।

(ई) ऐसे प्रत्येक प्रशासनिक अधिकरण को उन सभी वादों अथवा कार्यवाहियों के अंतरण का उपबंध कर सकेगी, जो ऐसे अधिकरण की स्थापना से ठीक पूर्व किसी न्यायालय अथवा अन्य प्राधिकरण के समक्ष लंबित थे और जो, यदि ऐसे वादों अथवा कार्यवाहियों का कारण-कार्यवाही ऐसी स्थापना के पश्चात् उत्पन्न हुआ होता, तो उस अधिकरण की अधिकारिता के अंतर्गत आते।

(एफ) अनुच्छेद 371डी के खंड (3) के अधीन राष्ट्रपति द्वारा किए गए किसी आदेश का निरसन अथवा संशोधन कर सकेगी।

(जी) ऐसे अनुपूरक, आनुषंगिक तथा पारिणामिक उपबंधों का समावेश कर सकेगी (जिनमें फीस से संबंधित उपबंध सम्मिलित हैं)

अधिकारों का उन्मूलन अथवा संशोधन, अथवा कृषि भूमि पर सीमा निर्धारण अथवा किसी अन्य प्रकार से भूमि सुधार।

(ई) नगरीय संपत्ति पर सीमा निर्धारण।

(एफ) संसद के किसी भी सदन अथवा किसी राज्य के विधानमंडल के किसी भी सदन के निर्वाचन, किन्तु अनुच्छेद 329 तथा अनुच्छेद 329ए में निर्दिष्ट विषयों को अपवर्जित करते हुए।

(जी) खाद्य पदार्थों (जिनमें खाद्य तिलहन तथा तेल सम्मिलित हैं) तथा ऐसे अन्य माल, जिन्हें राष्ट्रपति लोक अधिसूचना द्वारा इस अनुच्छेद के प्रयोजनार्थ

जिन्हें संसद वादों के प्रभावी संचालन तथा शीघ्र निस्तारण के लिए और ऐसे अधिकरणों के आदेशों के प्रवर्तन के लिए आवश्यक समझे।

(3) इस अनुच्छेद के उपबंध, संविधान के किसी अन्य उपबंध अथवा उस समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, प्रभावी होंगे।

आवश्यक वस्तुएँ घोषित करें, के उत्पादन, उपार्जन, प्रदाय तथा वितरण और ऐसे मालों के मूल्यों का नियंत्रण।

(एच) उपखंड (ए) से (जी) में विनिर्दिष्ट किसी भी विषय से संबंधित विधियों के विरुद्ध अपराध तथा उन विषयों में से किसी के संबंध में फीस।

(आई) उपखंड (ए) से (एच) में विनिर्दिष्ट किसी भी विषय से आनुषंगिक कोई विषय।

(3) खंड (1) के अधीन बनाई गई विधि

(ए) अधिकरणों के पदानुक्रम की स्थापना का उपबंध कर सकेगी।

(बी) उक्त अधिकरणों में से प्रत्येक की अधिकारिता, शक्तियाँ (न्यायालय की अवमानना के लिए दंड देने की शक्ति सहित) तथा प्राधिकार विनिर्दिष्ट कर सकेगी।

(सी) उक्त अधिकरणों द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया (जिसमें परिसीमा तथा साक्ष्य के नियमों से संबंधित उपबंध सम्मिलित हैं) का उपबंध कर सकेगी।

(डी) *अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर, उन सभी अथवा किसी भी विषय के संबंध में, जो उक्त अधिकरणों की अधिकारिता के अंतर्गत आते हैं, सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन कर सकेगी।*

(ई) ऐसे प्रत्येक अधिकरण को उन सभी वादों अथवा कार्यवाहियों के अंतरण का उपबंध कर सकेगी, जो ऐसे अधिकरण की स्थापना से ठीक पूर्व किसी न्यायालय अथवा अन्य प्राधिकरण के समक्ष लंबित थे और जो, यदि ऐसे वादों अथवा कार्यवाहियों का कारण-कार्यवाही ऐसी स्थापना के पश्चात् उत्पन्न हुआ होता, तो उस अधिकरण की अधिकारिता के अंतर्गत आते।

(एफ) ऐसे अनुपूरक, आनुषंगिक तथा पारिणामिक उपबंधों का समावेश कर सकेगी (जिनमें फीस से संबंधित उपबंध सम्मिलित हैं) जिन्हें समुचित विधानमंडल वादों के प्रभावी संचालन तथा शीघ्र निस्तारण के लिए और ऐसे अधिकरणों के आदेशों के प्रवर्तन के लिए आवश्यक समझे।

(4) इस अनुच्छेद के उपबंध, संविधान के किसी अन्य उपबंध अथवा उस समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, प्रभावी होंगे।

स्पष्टीकरण - इस अनुच्छेद में, किसी विषय के संबंध में “समुचित विधानमंडल” से अभिप्राय संसद अथवा, यथास्थिति, राज्य विधानमंडल से है, जो भाग XI के उपबंधों के अनुसार ऐसे विषय के संबंध में विधि बनाने के लिए सक्षम हो।

(बल दिया गया)

अब हम यह परीक्षण कर सकते हैं कि इन संवैधानिक उपबंधों को किस प्रकार कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया है, परिणामस्वरूप कौन-कौन सी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं तथा न्यायालयों ने उनका समाधान किस प्रकार करने का प्रयास किया है। ऐसे विश्लेषण में इन दोनों उपबंधों के कार्यकरण पर पृथक-पृथक विचार करना होगा।

अनुच्छेद 323 ए

संविधान के अनुच्छेद 323 ए के खंड (1) द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसरण में, संसद ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 (1985 का अधिनियम 13) [जिसे इसके पश्चात्

"अधिनियम" कहा जाएगा] अधिनियमित किया। अधिनियम के उद्देश्यों तथा कारणों के विवरण से यह इंगित होता है कि यह संविधान के अनुच्छेद 323ए के स्पष्ट प्रावधानों के अनुरूप था तथा इसे इसलिए अधिनियमित किया जा रहा था क्योंकि सेवा विषयक मामलों से संबंधित बड़ी संख्या में वाद विभिन्न न्यायालयों के समक्ष लंबित थे। यह अपेक्षा की गई थी कि "सेवा विषयक मामलों का अनन्य रूप से निपटारा करने के लिए ऐसे प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना न केवल विभिन्न न्यायालयों के भार को कम करने में अत्यधिक सहायक होगी तथा इस प्रकार उन्हें अन्य वादों का शीघ्र निपटारा करने के लिए अधिक समय उपलब्ध कराएगी, बल्कि प्रशासनिक अधिकरणों के अधिकारक्षेत्र में आने वाले व्यक्तियों को उनकी शिकायतों के संबंध में त्वरित अनुतोष भी प्रदान करेगी।"

अधिनियम के उपबंधों के अनुसरण में, पाँच पीठों सहित केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना 1 नवम्बर, 1985 को की गई। तथापि, अधिकरण की स्थापना से पूर्व ही, विभिन्न उच्च न्यायालयों तथा इस सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष अनेक रिट याचिकाएँ दायर की जा चुकी थीं, जिनमें संविधान के अनुच्छेद 323ए की संवैधानिक वैधता के साथ-साथ अधिनियम के उपबंधों को भी चुनौती दी गई थी। मुख्य शिकायत यह थी कि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता तथा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन किया गया था। 31 अक्टूबर, 1985 के एक अंतरिम आदेश द्वारा, जो *एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ,* (1985) 4 एससीसी 458 में प्रतिवेदित है, इस सर्वोच्च न्यायालय ने संवैधानिक रूप से सुदृढ़ सिद्धांतों के अनुरूप अधिकरण के कार्यकरण को सुनिश्चित करने की दृष्टि से कुछ उपायों को कार्यान्वित

करने का निर्देश दिया। अंतरिम चरण में तत्कालीन महान्यायवादी द्वारा इस सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष दिए गए आश्वासन के अनुसरण में, उपर्युक्त अंतरिम आदेश में विनिर्दिष्ट परिवर्तनों को प्रभावी करने के लिए एक संशोधन अधिनियम (1986 का अधिनियम 19) अधिनियमित किया गया।

जब *सम्पत कुमार के वाद* की अंतिम सुनवाई हुई, तब तक ये परिवर्तन अधिनियम के मूल ढाँचे तथा पाठ में सम्मिलित किए जा चुके थे। न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि मूल चुनौती के अधिकांश आधार, जिनमें अनुच्छेद 323ए की संवैधानिक वैधता को दी गई चुनौती भी सम्मिलित थी, अब अस्तित्व में नहीं रहे थे और न्यायालय ने अपना ध्यान केवल अधिनियम के उपबंधों की संवैधानिक वैधता की परीक्षा तक सीमित कर दिया। अपने अंतिम विनिर्णय में न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि न्यायिक समीक्षा संविधान की एक मूल विशेषता है, तथापि उच्च न्यायालयों से न्यायिक समीक्षा की शक्ति लेकर उसे किसी वैकल्पिक संस्थागत तंत्र में निहित करना संविधान की मूल संरचना का उल्लंघन नहीं करेगा, बशर्ते यह सुनिश्चित किया जाए कि वह वैकल्पिक तंत्र उच्च न्यायालय का एक प्रभावी तथा वास्तविक प्रतिस्थापक हो। प्रभावी वैकल्पिक संस्थागत तंत्र के इस सिद्धांत को आधार बनाकर न्यायालय ने यह निर्धारित करने के लिए अधिनियम के उपबंधों का विश्लेषण किया कि क्या वे संवैधानिक परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरते हैं। न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उस समय की स्थिति में अधिनियम एक प्रभावी प्रतिस्थापक की आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता था और इस उद्देश्य से अधिकरण की संरचना तथा विषयवस्तु को नियंत्रित करने वाले उपबंधों में अनेक संशोधनों का सुझाव दिया। वाद के निस्तारण के

पश्चात् एक संशोधन अधिनियम (1987 का अधिनियम 51) द्वारा इन सुझावों को विधिक बल प्रदान किया गया और तब से अधिनियम अपरिवर्तित बना हुआ है।

अब हम अधिनियम की योजना तथा उसकी प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कर सकते हैं, जैसा कि वह वर्तमान समय में विद्यमान है और जिसमें *सम्पत कुमार के वाद* में सुझाए गए परिवर्तन भी सम्मिलित हैं। अधिनियम में 37 धाराएँ हैं, जिन्हें पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। अध्याय I ("प्रारंभिक") में तीन धाराएँ हैं। धारा 3 परिभाषा धारा है।

अध्याय II ("अधिकरणों तथा उनकी पीठों की स्थापना") में धारा 4 से धारा 13 तक सम्मिलित हैं। धारा 4 केंद्र सरकार को निम्नलिखित स्थापित करने का अधिकार प्रदान करती है— (1) पृथक-पृथक स्थानों पर पीठों सहित एक केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण। (2) किसी ऐसे राज्य के लिए एक प्रशासनिक अधिकरण जिसने इस संबंध में अनुरोध किया हो। (3) दो अथवा अधिक राज्यों के लिए एक संयुक्त प्रशासनिक अधिकरण, जिन्होंने इस प्रयोजन के लिए कोई करार किया हो। धारा 5 उपबंधित करती है कि प्रत्येक अधिकरण में एक अध्यक्ष तथा उतनी संख्या में उपाध्यक्ष, न्यायिक सदस्य और प्रशासनिक सदस्य होंगे, जितने समुचित सरकार द्वारा आवश्यक समझे जाएँ। धारा 5 की उपधारा (2) यह अपेक्षा करती है कि प्रत्येक पीठ में सामान्यतः एक न्यायिक सदस्य तथा एक प्रशासनिक सदस्य होगा। धारा 5 की उपधारा (6), जो अधिकरण को एकल सदस्यीय पीठों के माध्यम से कार्य करने में

सक्षम बनाती है, कुछ विवाद का विषय है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, और उसे पूर्णतः निम्नवत् उद्धृत किया जा रहा है :

> "*धारा 5(6)* - इस धारा के पूर्वगामी उपबंधों में किसी बात के होते हुए भी, अध्यक्ष अथवा अध्यक्ष द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत कोई अन्य सदस्य, एकल सदस्यीय पीठ के रूप में कार्य करने तथा ऐसे वादों के वर्गों अथवा ऐसे वाद-वर्गों से संबंधित ऐसे विषयों के संबंध में, जिन्हें अध्यक्ष सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा विनिर्दिष्ट करे, अधिकरण की अधिकारिता, शक्तियों तथा प्राधिकार का प्रयोग करने के लिए सक्षम होगा :
>
> परन्तु यदि ऐसे किसी वाद अथवा विषय की सुनवाई के किसी भी चरण में अध्यक्ष अथवा ऐसे सदस्य को यह प्रतीत हो कि वाद अथवा विषय ऐसी प्रकृति का है कि उसकी सुनवाई दो सदस्यों वाली पीठ द्वारा की जानी चाहिए, तो अध्यक्ष द्वारा अथवा, यथास्थिति, ऐसे सदस्य द्वारा अध्यक्ष को अंतरण हेतु संदर्भित किए जाने पर, अध्यक्ष ऐसे वाद अथवा विषय का अंतरण ऐसी पीठ को कर सकेगा जिसे अध्यक्ष उपयुक्त समझे।"

धारा 6 अधिकरण के कार्मिकों की अर्हताओं से संबंधित है। चूँकि धारा 6 की प्रारम्भिक कुछ उपधाराओं पर आगे विचार किया जाना आवश्यक है, अतः उन्हें निम्नवत् पुनरुत्पादित किया जाता है :

> *"6. अध्यक्ष, उपाध्यक्ष अथवा अन्य सदस्यों की नियुक्ति हेतु अर्हताएँ -*

(1) कोई व्यक्ति अध्यक्ष के रूप में नियुक्ति के लिए तब तक अर्ह नहीं होगा जब तक कि वह -

(ए) किसी उच्च न्यायालय का न्यायमूर्ति है अथवा रहा है; अथवा

(बी) कम-से-कम दो वर्षों तक उपाध्यक्ष का पद धारण कर चुका है।

(सी) ....

(2) कोई व्यक्ति उपाध्यक्ष के रूप में नियुक्ति के लिए तब तक अर्ह नहीं होगा जब तक कि वह -

(ए) किसी उच्च न्यायालय का न्यायमूर्ति है अथवा रहा है अथवा उच्च न्यायालय का न्यायमूर्ति नियुक्त किए जाने के लिए अर्ह है; अथवा

(बी) कम-से-कम दो वर्षों तक भारत सरकार के सचिव का पद अथवा केंद्र सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन ऐसा कोई अन्य पद धारण कर चुका है जिसका वेतनमान भारत सरकार के सचिव के वेतनमान से कम न हो; अथवा

(बीबी) कम-से-कम पाँच वर्षों तक भारत सरकार के अपर सचिव का पद अथवा केंद्र सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन ऐसा कोई अन्य पद धारण कर चुका है जिसका वेतनमान भारत सरकार के अपर सचिव के वेतनमान से कम न हो; अथवा

(सी) कम-से-कम तीन वर्षों की अवधि तक न्यायिक सदस्य अथवा प्रशासनिक सदस्य के रूप में पद धारण कर चुका है।

(3) कोई व्यक्ति न्यायिक सदस्य के रूप में नियुक्ति के लिए तब तक अर्ह नहीं होगा जब तक कि वह -"

(ए) किसी उच्च न्यायालय का न्यायमूर्ति है अथवा रहा है अथवा उच्च न्यायालय का न्यायमूर्ति नियुक्त किए जाने के लिए अर्ह है; अथवा

(बी) भारतीय विधि सेवा का सदस्य रहा है तथा उस सेवा में ग्रेड I का पद कम-से-कम तीन वर्षों तक धारण कर चुका है।

(3-ए) कोई व्यक्ति प्रशासनिक सदस्य के रूप में नियुक्ति के लिए तब तक अर्ह नहीं होगा जब तक कि वह -

(ए) कम-से-कम दो वर्षों तक भारत सरकार के अपर सचिव का पद अथवा केंद्र सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन ऐसा कोई अन्य पद धारण कर चुका है जिसका वेतनमान भारत सरकार के अपर सचिव के वेतनमान से कम न हो; अथवा

(बी) कम-से-कम तीन वर्षों तक भारत सरकार के संयुक्त सचिव का पद अथवा केंद्र सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन ऐसा कोई अन्य पद धारण कर चुका है जिसका वेतनमान भारत सरकार के संयुक्त सचिव के वेतनमान से कम न हो;

और दोनों ही स्थितियों में उसके पास पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव होना चाहिए।"

धारा 6 की उपधाराएँ (4), (5) तथा (6) यह उपबंधित करती हैं कि केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण, राज्य प्रशासनिक अधिकरणों तथा संयुक्त प्रशासनिक अधिकरणों के

सभी सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। राज्य प्रशासनिक अधिकरणों तथा संयुक्त प्रशासनिक अधिकरणों के मामले में राष्ट्रपति के लिए संबंधित राज्यपाल अथवा राज्यपालों से परामर्श करना अपेक्षित है। उपधारा (7) यह उपबंधित करती है कि अधिनियम के अधीन सभी अधिकरणों के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति में भारत के मुख्य न्यायाधीश से भी परामर्श किया जाएगा।

धारा 8 अधिकरण के कार्मिकों के पदावधि की अवधि, पद ग्रहण करने की तिथि से पाँच वर्ष निर्धारित करती है। एक और पाँच वर्षीय अवधि के लिए पुनर्नियुक्ति का भी उपबंध है। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के लिए अनुमेय अधिकतम आयु सीमा 65 वर्ष है तथा किसी अन्य सदस्य के लिए 62 वर्ष है। धारा 10 यह उपबंधित करती है कि अधिकरण के सभी सदस्यों के वेतन, सेवा की शर्तें तथा अन्य नियम और शर्तें केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित की जाएँगी; तथापि, ऐसी शर्तों में किसी सदस्य की नियुक्ति के पश्चात् उसके प्रतिकूल परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

अध्याय III ("अधिकरणों की अधिकारिता शक्तियाँ तथा प्राधिकार") में धारा 14 से धारा 18 तक सम्मिलित हैं। धारा 14, धारा 15 तथा धारा 16 क्रमशः केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण, राज्य प्रशासनिक अधिकरणों तथा संयुक्त प्रशासनिक अधिकरणों की अधिकारिता, शक्तियों तथा प्राधिकार से संबंधित हैं। ये उपबंध स्पष्ट करते हैं कि इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर, अधिनियम के अधीन अधिकरणों के पास सेवा संबंधी सभी मामलों के संबंध में देश के प्रत्येक अन्य न्यायालय की अधिकारिता तथा शक्तियाँ होंगी। धारा 17

यह उपबंधित करती है कि अधिनियम के अधीन अधिकरणों को न्यायालय की अवमानना के संबंध में वही शक्तियाँ प्राप्त होंगी जो उच्च न्यायालयों को प्राप्त हैं।

अध्याय IV ("प्रक्रिया") में धारा 19 से धारा 27 तक सम्मिलित हैं। धारा 21 कठोर परिसीमा अवधियों का विनिर्देशन करती है तथा अधिनियम के अधीन अधिकरणों को विलंब का परिहार करने की शक्ति प्रदान नहीं करती।

अधिनियम का अंतिम अध्याय अर्थात् अध्याय V ("प्रकीर्ण"), जिसमें धारा 28 से धारा 37 तक सम्मिलित हैं, अधिनियम के अधीन अधिकरणों को विवादों के प्रभावी न्यायनिर्णयन में सहायता प्रदान करने हेतु आनुषंगिक शक्तियाँ प्रदान करता है। धारा 28, अर्थात् "अधिकारिता के अपवर्जन" संबंधी उपबंध, निम्नवत् है :

> *"28. न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन* - जिस तिथि से किसी सेवा अथवा पद पर भर्ती तथा किसी सेवा के सदस्यों अथवा किसी सेवा या पद पर नियुक्त व्यक्तियों से संबंधित भर्ती विषयों अथवा सेवा विषयक मामलों के संबंध में इस अधिनियम के अधीन किसी अधिकरण द्वारा कोई अधिकारिता, शक्तियाँ तथा प्राधिकार प्रयोग किए जाने योग्य हो जाते हैं, उस तिथि से -
>
> (ए) सर्वोच्च न्यायालय; अथवा

(बी) औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 अथवा उस समय प्रवृत्त किसी अन्य तत्सम विधि के अधीन गठित किसी औद्योगिक अधिकरण, श्रम न्यायालय अथवा अन्य प्राधिकरण,

को छोड़कर, किसी भी न्यायालय के पास ऐसी भर्ती अथवा ऐसी भर्ती से संबंधित विषयों अथवा ऐसे सेवा विषयक मामलों के संबंध में कोई अधिकारिता, शक्तियाँ अथवा प्राधिकार नहीं होगा और न ही वह उनका प्रयोग करने का हकदार होगा।"

हमारे समक्ष उपस्थित विवाद से अत्यंत प्रासंगिक तथा इसलिए विशेष रूप से रेखांकित किए जाने योग्य एक पहलू यह है कि धारा 28, जब मूल रूप से अधिनियमित की गई थी, संविधान के अनुच्छेद 323ए के खंड (2) के उपखंड (डी) के स्पष्ट शब्दों के अनुरूप थी और उसमें केवल संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता के संबंध में ही अपवाद किया गया था। तथापि, *सम्पत कुमार के वाद* की अंतिम सुनवाई से पूर्व इस उपबंध में और संशोधन किया गया तथा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को भी संरक्षित रखा गया। इस पहलू का उल्लेख *सम्पत कुमार के वाद* में न्यायमूर्ति मिश्रा द्वारा प्रदत्त निर्णय की कंडिका 14 में किया गया है। चूँकि *सम्पत कुमार के वाद* में न्यायालय ने अपना ध्यान केवल अधिनियम के उपबंधों तक सीमित रखा था, अतः न्यायालय ने यह संतोष व्यक्त किया कि अधिनियम के उपबंधों द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक समीक्षा की शक्ति से कोई छेड़छाड़ नहीं की गई है और इस व्यापक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा कि क्या संविधान के

अनुच्छेद 323ए के खंड (2) के उपखंड (डी) में भी इसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता थी।

धारा 29, अधिनियम के अधीन अधिकरणों की स्थापना से पूर्व विद्यमान प्रत्येक मंच के समक्ष लंबित सभी सेवा विषयक मामलों के उन अधिकरणों को अंतरण का उपबंध करती है। केवल उच्च न्यायालयों के समक्ष लंबित अपीलों के संबंध में अपवाद किया गया है। धारा 35 केंद्र सरकार को नियम बनाने की शक्ति प्रदान करती है तथा धारा 36 समुचित सरकार को अधिनियम के उपबंधों तथा उसमें विनिर्दिष्ट विषयों को कार्यान्वित करने के लिए नियम बनाने हेतु सशक्त करती है। धारा 37 के अनुसार केंद्र सरकार द्वारा बनाए गए नियमों को संसद के समक्ष तथा राज्य सरकारों द्वारा बनाए गए नियमों को संबंधित राज्य विधानमंडल(ओं) के समक्ष रखा जाना अपेक्षित है।

इस निर्णय के क्रम में अधिनियम तथा उसके उपबंधों का विश्लेषण किया जाएगा। तथापि, अधिनियम की रूपरेखा का प्रारंभिक मूल्यांकन यह इंगित करता है कि इसका उद्देश्य सभी सेवा विषयक मामलों के न्यायनिर्णयन हेतु एक स्व-संपूर्ण तथा लगभग पूर्णतः अनन्य मंच प्रदान करना था, (जिसके अपवाद धारा 28 में विनिर्दिष्ट हैं)। अधिनियम के अधीन सृजित अधिकरणों का उद्देश्य उच्च न्यायालयों के संबंध में पूरक भूमिका निभाना नहीं, बल्कि प्रतिस्थापनात्मक भूमिका निभाना था और यह भेद अत्यंत महत्वपूर्ण है।

विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता श्री के.एन. भट्ट द्वारा हमें उपलब्ध कराई गई सूचना के अनुसार, 1.11.1985 को स्थापित केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के अतिरिक्त आठ राज्यों ने राज्य प्रशासनिक अधिकरण स्थापित किए हैं और वे सभी वर्तमान में कार्यरत हैं। राज्य तथा संबंधित राज्य प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना की तिथियाँ निम्नवत् हैं :आंध्र प्रदेश (1.11.1989), हिमाचल प्रदेश (1.9.1986), कर्नाटक (6.10.1986), मध्य प्रदेश (2.8.1988), महाराष्ट्र (8.7.1989), उड़ीसा (14.7.1986), तमिलनाडु (12.12.1988), तथा पश्चिम बंगाल (16.1.1995)।

अब हम *"सम्पत कुमार के वाद के पश्चात् के वादों"* का विश्लेषण कर सकते हैं, जिनका उल्लेख संदर्भित पीठ के आदेश में किया गया है। *जे.बी. चोपड़ा बनाम भारत संघ,* [1987] 1 एससीसी 422 में, इस सर्वोच्च न्यायालय की एक खंड पीठ को उन विशिष्ट प्रश्नों में से एक पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ, जो अब हमारे विचारार्थ उपस्थित है, अर्थात् क्या अधिनियम के अधीन गठित केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण को संविधान के अनुच्छेद 309 के परंतुक के अधीन भारत के राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए किसी नियम को संविधान के अनुच्छेद 14 तथा अनुच्छेद 16(1) का उल्लंघन करने वाला मानते हुए अपास्त करने की अधिकारिता तथा शक्ति प्राप्त है। जब यह विषय खंड पीठ के समक्ष आया, उस समय यह प्रश्न *सम्पत कुमार के वाद* में संवैधानिक पीठ के विचाराधीन था। अतः खंड पीठ ने *सम्पत कुमार के वाद* में अंतिम निर्णय के उच्चारण तक अपना निर्णय स्थगित रखा। तत्पश्चात् उसने संवैधानिक पीठ के निर्णय का विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि "प्रशासनिक अधिकरण, उच्च न्यायालय के प्रतिस्थापक के रूप में, सेवा विषयक सभी विवादों का न्यायनिर्णयन करने के लिए आवश्यक अधिकारिता, शक्ति तथा प्राधिकार रखता है, जिसमें

संविधान के अनुच्छेद 14 तथा 16(1) का उल्लंघन करने वाले ऐसे विधियों की संवैधानिक वैधता अथवा अवैधता से संबंधित सभी प्रश्नों का निस्तारण करने की शक्ति भी सम्मिलित है।”

जिस एक पहलू पर विशेष बल दिया जाना आवश्यक है, वह यह है कि *सम्पत कुमार के वाद* में संवैधानिक पीठ ने इस प्रश्न पर विशेष रूप से विचार नहीं किया था कि क्या अधिनियम के अधीन अधिकरणों को किसी वैधानिक उपबंध अथवा नियम को संवैधानिक रूप से अवैध घोषित करने की शक्ति प्राप्त होगी। तथापि, *जे.बी. चोपड़ा बनाम भारत संघ,* [1987] 1 एससीसी 422 में खंड पीठ का मत था कि यह निष्कर्ष *सम्पत कुमार के वाद* में अपनाई गई तर्कपद्धति का प्रत्यक्ष तथा तार्किक परिणाम है।

एम.बी. मजूमदार के वाद में, इस सर्वोच्च न्यायालय की एक खंड पीठ को उस तर्क का सामना करना पड़ा जो इस आधार पर प्रस्तुत किया गया था कि *सम्पत कुमार के वाद* में इस सर्वोच्च न्यायालय ने अधिनियम के अधीन स्थापित अधिकरणों को उच्च न्यायालयों के समकक्ष माना था और इसलिए केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के सदस्यों को वही वेतन दिया जाना चाहिए जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को देय था। न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 323ए के पाठ, अधिनियम के उपबंधों तथा *सम्पत कुमार के वाद* के निर्णय का विश्लेषण करने के पश्चात् इस तर्क को अस्वीकार कर दिया कि सेवा शर्तों के संबंध में अधिकरण उच्च न्यायालयों के समकक्ष हैं। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि *सम्पत कुमार के वाद* में अधिनियम के अधीन अधिकरणों को उच्च न्यायालयों के समकक्ष केवल इस सीमा

तक माना गया था कि सेवा विषयक मामलों के न्यायनिर्णयन में वे उच्च न्यायालयों के प्रतिस्थापक के रूप में कार्य करेंगे। अतः अधिकरण अन्य सभी प्रयोजनों के लिए समानता का दावा नहीं कर सकते।

अमूल्य चन्द्र के वाद में, इस सर्वोच्च न्यायालय की एक खंड पीठ को इस प्रश्न पर विचार करना पड़ा कि क्या केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के समक्ष कोई विवाद केवल एक प्रशासनिक सदस्य द्वारा विनिर्णीत किया जा सकता है। न्यायालय ने अधिनियम की धारा 5 की उपधारा (2) का संज्ञान लिया, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह उपबंधित करती है कि अधिनियम के अधीन किसी अधिकरण की पीठ में सामान्यतः एक न्यायिक सदस्य तथा एक प्रशासनिक सदस्य होना चाहिए। न्यायालय ने *सम्पत कुमार के वाद* में की गई प्रासंगिक टिप्पणियों का भी संज्ञान लिया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अधिनियम की योजना के अनुसार सभी वादों की सुनवाई दो सदस्यीय पीठ द्वारा की जानी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय का ध्यान धारा 5 की उपधारा (6) की ओर आकृष्ट नहीं किया गया था, जो, जैसा कि हमने देखा है, अधिनियम के अधीन अधिकरण के एक सदस्य को वादों की सुनवाई तथा उनका विनिर्णय करने में सक्षम बनाती है।

यही प्रश्न इस सर्वोच्च न्यायालय की एक अन्य पीठ के समक्ष *डॉ. महाबल राम के वाद* में विचारार्थ आया। न्यायालय ने *अमूल्य चन्द्र के वाद* के निर्णय का संज्ञान लिया और चूँकि अधिनियम की धारा 5 की उपधारा (6) की संवैधानिक वैधता को चुनौती नहीं दी गई

थी, इसलिए अभिनिर्धारित किया कि धारा 5 की उपधाराओं (2) तथा (6) का सामंजस्यपूर्ण निर्वचन निम्नलिखित प्रकार से किया जाना चाहिए (*उपरोक्त*, पृष्ठ 404) ::

> "... इसमें कोई संदेह नहीं है कि *सम्पत कुमार के वाद* में जो कहा गया है, उसके अनुसार विवादों के निस्तारण के विषय में वादकारियों के हितों का न्यायसंगत ढंग से संरक्षण किया जाना आवश्यक है। जहाँ विधि के जटिल प्रश्न अंतर्विष्ट होंगे, वहाँ विवाद गंभीर विचार तथा गहन परीक्षण की अपेक्षा करेगा। तथापि, अधिकरण के समक्ष ऐसे अनेक वाद होंगे जिनमें प्रायः न तो कोई संवैधानिक प्रश्न और न ही कोई विधिक प्रश्न अंतर्विष्ट होगा ......हम अधिकरण के समक्ष आने वाले दावेदारों के हितों का संरक्षण इस प्रकार करने के लिए तैयार हैं कि *उपधारा (6) के अधीन किसी एकल सदस्य, चाहे वह न्यायिक सदस्य हो अथवा प्रशासनिक सदस्य, को कार्य आवंटित करते समय अध्यक्ष को वाद की प्रकृति को दृष्टिगत रखना चाहिए और जहाँ विधि के प्रश्न तथा संवैधानिक उपबंधों के निर्वचन से संबंधित प्रश्न अंतर्विष्ट हों, ऐसे वाद किसी एकल सदस्य को आवंटित नहीं किए जाने चाहिए।* वास्तव में, परंतुक स्वयं यह इंगित करता है कि संसद को दावेदारों के हितों के संरक्षण की चिंता थी और इसी कारण अध्यक्ष तथा उन सदस्यों पर, जो वादों की सुनवाई करते हैं, यह दायित्व अधिरोपित किया गया है कि वे ऐसे वादों को, जो उनके मत में दो सदस्यीय पीठ द्वारा सुने जाने योग्य हैं, नियमित दो सदस्यीय पीठ को संदर्भित करें। हम यह भी जोड़ना चाहेंगे कि किसी एकल सदस्य के समक्ष उपस्थित किसी भी पक्षकार के लिए यह सुझाव देना खुला रहेगा कि विचाराधीन विषय को दो सदस्यीय पीठ के समक्ष भेजा जाए। *ऐसी स्थिति में विषय की सुनवाई कर रहा सदस्य*

सामान्यतः उस विषय को दो सदस्यीय पीठ के समक्ष भेजने की अनुमति देगा। इससे दावेदारों के हितों तथा यहाँ तक कि उस प्रशासनिक तंत्र के हितों का भी पर्याप्त संरक्षण होगा, जिसके वाद निस्तारण हेतु एकल सदस्य के समक्ष लंबित हो सकते हैं .....उपधारा (6) की संवैधानिक वैधता को चुनौती नहीं दी गई है और इसलिए धारा 5 के दोनों उपबंधों का निर्वचन विधायी आशय को दृष्टिगत रखते हुए किया जाना चाहिए। हमारा मत है कि ऊपर जो हमने इंगित किया है, वही वास्तविक विधायी आशय को अभिव्यक्त करता है तथा उपधारा (2) में निहित उपबंध और उपधारा (6) में निहित अपवाद का युक्तियुक्त सामंजस्य स्थापित करता है।"

आर.के. जैन बनाम भारत संघ, [1993] 4 एस.सी.सी. 119 में, इस सर्वोच्च न्यायालय की एक खंड पीठ, जिसमें हममें से तीन (अहमदी, मुख्य न्यायाधीश, पुंछी तथा रामास्वामी, न्यायमूर्तिगण) सम्मिलित थे, को सीमा शुल्क, आबकारी तथा स्वर्ण नियंत्रण अपीलीय अधिकरण के कार्यकरण से संबंधित शिकायतों पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ, जो अनुच्छेद 323 बी द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करके स्थापित किया गया था। अपने प्रमुख निर्णय में, रामास्वामी, न्यायमूर्ति ने प्रासंगिक संवैधानिक उपबंधों, *सम्पत कुमार, जे.बी. चोपड़ा* तथा *एम.बी. मजूमदार* में दिए गए विनिर्णयों का विश्लेषण किया, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि अनुच्छेद 323 ए तथा अनुच्छेद 323 बी के अधीन सृजित अधिकरणों को संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन अधिकारिता के प्रयोग के प्रयोजनार्थ उच्च न्यायालयों के प्रतिस्थापक के रूप में नहीं माना जा सकता। इन वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के कार्यकरण के पाँच वर्षों से अधिक के अनुभव का लाभ प्राप्त होने पर,

न्यायिक समीक्षा की उच्च शक्ति के प्रयोग में उनकी अप्रभावशीलता पर व्यथा व्यक्त की गई। यह अभिलिखित किया गया कि उनका कार्यनिष्पादन बहुत कुछ अपेक्षित छोड़ गया था। तत्पश्चात्, यह उल्लेख किया गया कि उपलब्ध एकमात्र उपचार, अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय में अपील, अत्यधिक व्ययसाध्य सिद्ध हुआ था, साथ ही सम्मिलित दूरियों के कारण असुविधाजनक भी था। यह सुझाव दिया गया कि भारत का विधि आयोग जैसे किसी विशेषज्ञ निकाय को ऐसे अधिकरणों के आदेशों के विरुद्ध संबंधित उच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों वाली पीठ के समक्ष अपील प्रदान करने की व्यवहार्यता का अध्ययन करना चाहिए तथा उनकी स्थापना के पश्चात् अधिकरणों के कार्यकरण, ऐसे अधिकरणों में अधिवक्ता समुदाय के सदस्यों को सम्मिलित किए जाने की संभावना आदि का भी विश्लेषण करना चाहिए। यह आशा की गई कि ऐसे किसी विशेषज्ञ निकाय की अनुशंसाओं को भारत सरकार द्वारा तत्काल अंगीकृत किया जाएगा तथा अधिकरणों द्वारा सामना की जा रही कठिनाइयों को दूर करने के लिए उपचारात्मक कदम आरंभ किए जाएँगे, जिससे वे प्रभावी, अल्पव्ययी तथा संतोषजनक न्याय प्रदान करने में सक्षम बन सकें।

एक पृथक किन्तु सहमतिपूर्ण निर्णय में, अहमदी, न्यायमूर्ति (जैसा कि तब थे), अपने लिए तथा पुंछी, न्यायमूर्ति की ओर से बोलते हुए, निम्नलिखित शब्दों में अनुशंसाओं का समर्थन किया :

> "... (टी) संविधान में अनुच्छेद 323 ए तथा 323 बी के अंतःस्थापन के पश्चात् देश में स्थापित विभिन्न अधिकरणों के कार्यकरण का आकलन करने का समय आ गया है। विधि के शासन के प्रति प्रतिबद्ध किसी देश के कुशल शासन के लिए एक सुदृढ़ न्याय प्रदाय प्रणाली *साइन क्वा नॉन (अनिवार्य शर्त)* है। केवल एक स्वतंत्र तथा

निष्पक्ष न्याय प्रदाय प्रणाली, जिसमें वादकारी जनता का विश्वास तथा आस्था हो, अपेक्षित परिणाम प्रदान कर सकती है। इन दो अनुच्छेदों के समावेशन के पश्चात् ऐसे अधिनियम अधिनियमित किए गए हैं जिनके अधीन न्याय प्रदान करने के लिए अधिकरणों का गठन किया गया है। पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है तथा पिछले कुछ वर्षों में पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका है जिससे स्थिति का आकलन किया जा सके ताकि यह ज्ञात किया जा सके कि क्या उन्होंने उस प्रयोजन तथा उद्देश्यों की पूर्ति की है जिनके लिए उनका गठन किया गया था। अन्य अधिकरणों के कार्यकरण के संबंध में भी शिकायतें सुनने में आई हैं और अब समय आ गया है कि भारत के विधि आयोग जैसा कोई निकाय उनके उन्नत कार्यकरण हेतु उपाय सुझाने के उद्देश्य से व्यापक परीक्षण करे। वह निकाय विभिन्न अधिनियमों में परिवर्तन भी सुझा सकता है तथा ऐसे आधार प्रतिरूप का विकास कर सकता है जिसके आधार पर अधिकरणों का गठन अथवा पुनर्गठन किया जा सके ताकि अधिक स्वतंत्रता सुनिश्चित की जा सके। विभिन्न अधिनियमों के अधीन अधिकरणों की संरचना के संबंध में, उनकी स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से, भारत के विधि आयोग द्वारा गहन तथा व्यापक अध्ययन किया जाना आवश्यक है ताकि ऐसे अधिकरणों में जनता का विश्वास बढ़ सके और उनके कार्यनिष्पादन की गुणवत्ता में सुधार हो सके। हम भारत के विधि आयोग को दृढ़तापूर्वक अनुशंसा करते हैं कि वह ऐसे अभ्यास को प्राथमिकता के आधार पर संपादित करे। इस निर्णय की एक प्रति इस सर्वोच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार द्वारा आयोग के सदस्य सचिव को तत्काल कार्रवाई के लिए अग्रेषित की जाए।"

सुनवाई के दौरान, हमने भारत के विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता, श्री के.एन. भट्ट से अनुरोध किया कि वे हमें *आर.के. जैन के वाद* में इस सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देशों के कार्यान्वयन हेतु किए गए उपायों की जानकारी दें। हमें बताया गया कि विधि आयोग ने वास्तव में निर्णय में सुझाई गई पंक्तियों के अनुरूप एक कार्यनिष्पादन विश्लेषण आरंभ किया था; तथापि, जब खंड पीठ ने यह संकेत देने वाला आदेश पारित किया कि *सम्पत कुमार* के वाद पर एक बड़ी पीठ द्वारा पुनर्विलोकन किया जाना पड़ सकता है, तब उस अध्ययन पर आगे की प्रगति रोक दी गई।

अब हम हमारे समक्ष के वादों में से एक, 1994 की दीवानी अपील संख्या 169 में आक्षेपित किए गए निर्णय के विश्लेषण में स्वयं को प्रवृत्त कर सकते हैं। *साकिनाला हरिनाथ एवं अन्य बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* में पूर्ण पीठ द्वारा प्रदत्त निर्णय ने संविधान के अनुच्छेद 323ए(2)(डी) को उस सीमा तक असंवैधानिक घोषित किया है, जिस सीमा तक वह संसद को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को अपवर्जित करने के लिए सशक्त बनाता है; इसके अतिरिक्त, अधिनियम की धारा 28 को भी उस सीमा तक असंवैधानिक अभिनिर्धारित किया गया है, जिस सीमा तक वह सेवा विषयक मामलों के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को उनसे वंचित करती है।

न्यायालय का निर्णय, जो एम.एन. राव, न्यायमूर्ति द्वारा प्रदत्त किया गया, ने हमारे समक्ष के केंद्रीय प्रश्नों को इस सर्वोच्च न्यायालय की संवैधानिक पीठों द्वारा प्रदत्त अनेक महत्त्वपूर्ण विनिर्णयों तथा तुलनात्मक संवैधानिक विधि के प्रमुख प्राधिकारों की पृष्ठभूमि में

विस्तृत रूप से देखा है। निर्णय ने 'न्यायिक शक्ति', 'न्यायिक समीक्षा' तथा अन्य संबंधित पहलुओं की वास्तविक अभिप्राय का पता लगाने के लिए अमेरिकी, ऑस्ट्रेलियाई तथा ब्रिटिश अधिकारिताओं तक विस्तृत एक व्यापक अन्वेषण का आरंभ किया है। निर्णय ने संविधान के अनुच्छेद 371डी पर आधारित एक तर्क का भी विश्लेषण किया है, किन्तु चूँकि वह पहलू हमारे समक्ष मुख्य विवाद से संबंधित नहीं है, हम उसकी चर्चा से बचेंगे।

आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय ने, हमारे संविधान के विभिन्न उपबंधों का विश्लेषण करने के पश्चात्, अभिनिर्धारित किया है कि हमारी संवैधानिक योजना के अधीन सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ही न्यायिक समीक्षा की शक्ति के एकमात्र अधिष्ठान हैं। ऐसी शक्ति, जिसमें विधियों की वैधता तथा संविधान के अनुच्छेद 12 में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "राज्य" के क्षेत्राधिकार में आने वाले व्यक्तियों तथा निकायों द्वारा की गई कार्यवाहियों और पारित आदेशों की वैधता पर निर्णय देने की शक्ति भी सम्मिलित है, केवल संवैधानिक न्यायालयों अर्थात् उच्च न्यायालयों तथा इस सर्वोच्च न्यायालय को ही सौंपी गई है। इस प्रतिपादन के समर्थन में *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य,* [1973] 4 एस.सी.सी. 225, *1964 का विशेष संदर्भ संख्या 1,* [1965] 1 एस.सी.आर. 413, *इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण,* [1975] अनुपूरक एस.सी.सी. 1, *मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ,* [1980] 3 एस.सी.सी. 625, *किहोटो होलोहन बनाम जाचिल्लू एवं अन्य,* [1992] अनुपूरक 2 एस.सी.सी. 651 तथा कुछ अन्य विनिर्णयों में इस सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से समर्थन ग्रहण किया गया है, जिनका व्यापक रूप से विश्लेषण किया गया है तथा जिनसे प्रचुर मात्रा में उद्धरण दिए गए हैं।

सम्पत कुमार के वाद में दिए गए विनिर्णय का इस पृष्ठभूमि में विश्लेषण करते हुए, यह उल्लेख किया गया कि *सम्पत कुमार के वाद* में स्थापित वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों का सिद्धांत, *केशवानंद भारती के वाद*, *विशेष संदर्भ के वाद* तथा *इंदिरा गांधी के वाद* में प्रतिपादित उस प्रतिपादन की अवहेलना में है कि केवल संवैधानिक न्यायालय ही वैधानिक उपबंधों तथा नियमों की संवैधानिक वैधता पर निर्णय देने के लिए न्यायिक समीक्षा की शक्ति का प्रयोग करने में सक्षम हैं। अतः उच्च न्यायालय का मत था कि *सम्पत कुमार के वाद* में दिया गया विनिर्णय, *पर इनक्यूरियम (विधि की उपेक्षा में)* होने के कारण, उस पर बाध्यकारी नहीं था। उच्च न्यायालय ने यह भी इंगित किया कि किसी भी स्थिति में, अनुच्छेद 323ए(2)(डी) की संवैधानिकता का प्रश्न *सम्पत कुमार के वाद* में न तो चुनौती दिया गया था और न ही अभिनिर्धारित किया गया था तथा उस पहलू पर उसे प्राधिकार नहीं कहा जा सकता।

तत्पश्चात्, सेवा विषयों के महत्व पर बल देते हुए, जो लोक सेवकों के कार्यकरण को प्रभावित करते हैं, जो एक सुदृढ़ शासकीय व्यवस्था का अभिन्न अंग हैं, उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि सेवा विषय, जिनमें उपबंधों अथवा नियमों की संवैधानिकता की परीक्षा सम्मिलित है, अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय होने के कारण, वैधानिक रूप से सृजित न्यायनिर्णायक निकायों द्वारा विनिर्णीत किए जाने के लिए नहीं छोड़े जा सकते, क्योंकि वे कार्यपालिका के प्रभावों तथा दबावों के प्रति संवेदनशील हो सकते हैं। इस बात पर बल दिया गया कि संवैधानिक न्यायालयों के संबंध में, हमारे संविधान-निर्माताओं ने ऐसे ही दबावों से उन्हें प्रतिरक्षित रखने के लिए विशेष उपबंधों का समावेश किया था। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने के लिए भी कारण बताए कि उपलब्ध एकमात्र उपचार, अर्थात् इस

सर्वोच्च न्यायालय में अनुच्छेद 136 के अधीन अपील, वास्तविक संरक्षण प्रदान करने में सक्षम नहीं था। यह भी इंगित किया गया कि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का संरक्षण भी स्थिति में कोई सुधार लाने में सहायक नहीं होगा। अतः यह निष्कर्ष निकाला गया कि यद्यपि न्यायिक शक्ति किसी न्यायालय अथवा अधिकरण में निहित की जा सकती है, तथापि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की न्यायिक समीक्षा की शक्ति को, यहाँ तक कि किसी संवैधानिक संशोधन द्वारा भी, अपवर्जित नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 323 बी

संविधान का यह उपबंध संसद अथवा राज्य विधानमंडलों को, जैसा भी मामला हो, ऐसे विधि अधिनियमित करने के लिए सशक्त बनाता है जो अनुच्छेद 323 बी के खंड (2) के नौ उपखंडों में विनिर्दिष्ट विविध विषयों के संबंध में विवादों, शिकायतों अथवा अपराधों के न्यायनिर्णयन अथवा विचारण के लिए अधिकरणों द्वारा व्यवस्था करे। विनिर्दिष्ट विषयों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और उसमें अन्य बातों के साथ-साथ कर संबंधी वादों, विदेशी मुद्रा विषयों, औद्योगिक तथा श्रम वादों, नगरीय संपत्ति पर उच्चतम सीमा, राज्य विधानमंडलों तथा संसद के निर्वाचन, आवश्यक वस्तुओं तथा उनके वितरण, आपराधिक अपराधों आदि से संबंधित विवाद सम्मिलित हैं। खंड (3) संबंधित विधानमंडल को अधिकरणों के पदानुक्रम की स्थापना करने तथा उनकी अधिकारिता, उनके कार्यकरण में अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया आदि विनिर्दिष्ट करने में सक्षम बनाता है। खंड (3) का उपखंड (डी) संबंधित विधानमंडल को अधिकरणों की अधिकारिता के अंतर्गत आने वाले सभी अथवा किसी विषय के संबंध में, संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को छोड़कर, सभी

न्यायालयों की अधिकारिता को अपवर्जित करने के लिए सशक्त बनाता है। अतः यह संवैधानिक उपबंध संसद अथवा राज्य विधानमंडलों को, जैसा भी मामला हो, परंपरागत न्यायालयों को उनके न्यायिक कार्य के एक पर्याप्त भाग से वंचित करने की शक्ति प्रदान करता है।

विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता श्री के.एन. भट्ट द्वारा हमें उपलब्ध कराई गई सूचना के अनुसार, वर्तमान तिथि तक अनुच्छेद 323बी के अधीन केवल चार अधिकरण स्थापित किए गए हैं, जो तीन राज्यों के विधानमंडलों द्वारा अधिनियमित विधियों के अनुसरण में सृजित किए गए हैं। इनमें प्रथम पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण था, जिसकी स्थापना 1989 में पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण अधिनियम, 1987 के अधीन की गई थी। इसी प्रकार, राजस्थान कराधान अधिकरण अधिनियम, 1995 के अधीन 1995 में राजस्थान कराधान अधिकरण की स्थापना की गई। तमिलनाडु राज्य ने अनुच्छेद 323बी द्वारा प्रदत्त शक्ति का उपयोग करते हुए दो अधिकरण स्थापित किए हैं। इनमें प्रथम तमिलनाडु भूमि सुधार विशेष अपीलीय अधिकरण था, जिसकी स्थापना 1.11.1990 को तमिलनाडु भूमि सुधार (भूमि पर उच्चतम सीमा का निर्धारण) संशोधन अधिनियम, 1985 के अधीन की गई थी, ताकि तमिलनाडु भूमि सुधार (भूमि पर उच्चतम सीमा का निर्धारण) अधिनियम, 1961 के अधीन उत्पन्न होने वाले सभी भूमि सुधार संबंधी विषयों का निस्तारण किया जा सके।इसके पश्चात्, तमिलनाडु कराधान विशेष अधिकरण अधिनियम, 1992 के अधीन 22.12.1995 को तमिलनाडु कराधान विशेष अधिकरण की स्थापना की गई, ताकि तमिलनाडु सामान्य विक्रय

कर अधिनियम तथा अतिरिक्त विक्रय कर अधिनियम के अधीन उत्पन्न होने वाले वादों का निस्तारण किया जा सके।

इन अधिकरणों के कार्यकरण में कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, विशेषकर उस प्रकार के संबंध में जिससे वे अपने-अपने उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं। इस पहलू को हमारे समक्ष के दो वादों के व्यापक तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख करके स्पष्ट किया जा सकता है। 1993 की दीवानी अपील संख्या 1532-33, पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा पारित परस्पर विरोधी आदेशों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। कुछ याचिकाकर्ताओं ने पश्चिम बंगाल विधानमंडल द्वारा अधिनियमित तीन अधिनियमों के कुछ उपबंधों की संवैधानिक वैधता को पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण के समक्ष चुनौती दी थी। विषय का परीक्षण करने तथा पश्चिम बंगाल राज्य की ओर से प्रस्तुत तर्कों को सुनने के पश्चात्, पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण ने 9.10.1991 के अपने आदेश द्वारा आक्षेपित उपबंधों की संवैधानिक वैधता को बरकरार रखा। तत्पश्चात्, उन्हीं उपबंधों की संवैधानिक वैधता को कलकत्ता उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका में चुनौती दी गई। कार्यवाही के दौरान, पश्चिम बंगाल राज्य ने यह प्रारंभिक आपत्ति उठाई कि पश्चिम बंगाल कराधान अधिकरण अधिनियम, 1987 की धारा 14 के कारण, जो कराधान अधिकरण की अधिकारिता के अंतर्गत आने वाले सभी विषयों में उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करती है, कलकत्ता उच्च न्यायालय को रिट याचिका पर विचार करने की कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है। तथापि, उच्च न्यायालय ने वाद की सुनवाई जारी रखी और 25.11.1992 के अपने निर्णय द्वारा आक्षेपित उपबंधों को असंवैधानिक घोषित कर दिया। इन घटनाक्रमों के परिणामस्वरूप एक रोचक स्थिति उत्पन्न हो गई, जहाँ

उन्हीं उपबंधों को दो विभिन्न मंचों द्वारा, जिनमें से प्रत्येक स्वयं को अधिकारिता का प्रयोग करने हेतु सशक्त मानता था, क्रमशः संवैधानिक तथा असंवैधानिक अभिनिर्धारित किया गया।

1991 का विशेष अनुमति याचिका संख्या 17768, मद्रास उच्च न्यायालय के उस निर्णय को चुनौती देने के लिए है जिसमें अभिनिर्धारित किया गया कि तमिलनाडु भूमि सुधार विशेष अपीलीय अधिकरण की स्थापना, रिट जारी करने की मद्रास उच्च न्यायालय की शक्तियों को प्रभावित नहीं करेगी। यह विनिर्णय इस तर्क पर आधारित है कि राज्य के विधानमंडल को "संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट जारी करने की उच्च न्यायालयों की शक्तियों तथा संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उनकी अधीक्षण शक्तियों का अतिक्रमण करने" की कोई शक्ति प्राप्त नहीं थी।

इन्हीं परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में अब हमें हमारे विचारार्थ प्रस्तुत प्रतिपादनों की परीक्षा करनी है।

अधिवक्ताओं के निवेदन।

हमने हमारे समक्ष विभिन्न पक्षकारों की ओर से उपस्थित अनेक विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ताओं के निवेदनों को सुना है। श्री रामा जोइस तथा श्री शांति भूषण ने, अपने-अपने तर्कों के माध्यम से, हमसे *सम्पत कुमार के वाद* में दिए गए विनिर्णय का पुनर्विलोकन करने तथा यह अभिनिर्धारित करने का आग्रह किया कि संविधान का अनुच्छेद 323ए(2)(डी) तथा अनुच्छेद 323बी(3)(डी) उस सीमा तक असंवैधानिक हैं, जिस सीमा तक वे अधिनियम के

अधीन सृजित अधिकरणों को संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन उच्च न्यायालयों में निहित अधिकारिता का अनन्य रूप से प्रयोग करने की अनुमति देते हैं। दूसरी ओर, विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता श्री भट्ट, श्री पी.पी. राव तथा श्री के.के. वेणुगोपाल ने हमसे आक्षेपित संवैधानिक उपबंधों की वैधता को बरकरार रखने तथा ऐसे अधिकरणों को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने की अनुमति देने का आग्रह किया। हमने केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण की प्रधान पीठ के रजिस्ट्रार की ओर से प्रस्तुत तर्कों को भी सुना है, जिनका हमारे समक्ष प्रतिनिधित्व श्री कपिल सिब्बल द्वारा किया गया। विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता श्री वी.आर. रेड्डी ने हमसे मद्रास उच्च न्यायालय के उस निर्णय को अपास्त करने का आग्रह किया, जो तमिलनाडु भूमि सुधार विशेष अपीलीय अधिकरण की अधिकारिता को प्रभावित करता है। कुछ अन्य अधिवक्ताओं ने भी हमारे समक्ष प्रस्तुत मुख्य तर्कों के समर्थन में हमें संबोधित किया।

1992 की रिट याचिका संख्या 918 में याचिकाकर्ता के विद्वान अधिवक्ता श्री रामा जोइस ने निम्नानुसार तर्क प्रस्तुत किए : (i) अधिनियम की धारा 5(6), जहाँ तक वह किसी अधिकरण की एकल सदस्यीय पीठ को किसी वैधानिक उपबंध की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने की अनुमति देती है, असंवैधानिक है। यह प्रतिपादन *सम्पत कुमार के वाद, अमूल्य चन्द्र के वाद* तथा *डॉ. महाबल राम* के वाद में दिए गए विनिर्णयों से प्रवाहित होता है। सम्पत कुमार के वाद में, इस सर्वोच्च न्यायालय ने अपेक्षा की थी कि किसी अधिकरण की पीठ में सामान्यतः एक न्यायिक सदस्य तथा एक प्रशासनिक सदस्य होना चाहिए। परिणामस्वरूप, अधिनियम की धारा 5(2) में तदनुसार संशोधन किया गया; तथापि, चूँकि धारा 5(6) में साथ-साथ संशोधन नहीं किया गया, *सम्पत कुमार के वाद* में की गई

टिप्पणियों के आशय को अभी भी निष्फल किया जा सकता है। यहाँ तक कि यदि *सम्पत कुमार के वाद* में अपनाए गए वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के सिद्धांत को सही मान भी लिया जाए, तब भी अधिनियम की धारा 5(6) को अपास्त करना होगा क्योंकि किसी अधिकरण की एकल सदस्यीय पीठ को संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय की शक्ति के प्रयोग का प्रतिस्थापक नहीं माना जा सकता; (ii) संविधान के आक्षेपित उपबंध, जहाँ तक वे संविधान के अनुच्छेद 32 तथा 226 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं, असंवैधानिक हैं। इसका कारण यह है कि : (ए) संसद, अपनी संविधान संशोधन शक्ति के प्रयोग में, संसद तथा राज्य विधानमंडलों को उच्च न्यायालयों को प्रदत्त संवैधानिक अधिकारिता का अपवर्जन करने की शक्ति प्रदान नहीं कर सकती क्योंकि संविधान संशोधन की शक्ति विधानमंडलों को प्रदान नहीं की जा सकती; तथा (बी) ये उपबंध संविधान की मूल संरचना का उल्लंघन करते हैं क्योंकि ये संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय तथा संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन उच्च न्यायालयों में निहित न्यायिक समीक्षा की शक्ति का अपहरण कर लेते हैं। जबकि अनुच्छेद 323 ए तथा 323 बी के अधीन गठित अधिकरणों को प्रशासनिक कार्रवाई के ऊपर न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्रदान की जा सकती है, विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति उन्हें प्रदान नहीं की जा सकती। यह प्रतिपादन *केशवानंद भारती के वाद* से प्रवाहित होता है, जिसमें अभिनिर्धारित किया गया था कि हमारी संवैधानिक योजना के अधीन केवल संवैधानिक न्यायालयों को ही विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति प्रदान की गई है; (iii) जबकि अधिनियम के उपबंध संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की पवित्र अधिकारिता को प्रभावित करने का अभिप्राय नहीं रखते,

अनुच्छेद 323ए तथा 323बी संसद को भविष्य में ऐसा मार्ग अपनाने की अनुमति देते हैं और इसलिए उन्हें अपास्त किया जाना चाहिए; (iv) *सम्पत कुमार के वाद* में दिया गया विनिर्णय इस आशा पर आधारित था कि अधिकरण उच्च न्यायालयों के प्रभावी प्रतिस्थापक सिद्ध होंगे। यह स्थिति निम्नलिखित कारणों से न तो तथ्यात्मक रूप से और न ही विधिक रूप से सही है : (ए) उच्च न्यायालय, संविधान के अनुच्छेद 215 के अधीन अभिलेख न्यायालय होने के परिणामस्वरूप व्यापक शक्तियों का उपभोग करते हैं तथा उन मामलों में, जहाँ वे यह अनुभव करते हैं कि इस सर्वोच्च न्यायालय के किसी विनिर्णय की आवश्यकता है, संविधान के अनुच्छेद 132 तथा 133 के अधीन अपील प्रमाणपत्र जारी करने की शक्ति भी रखते हैं। अधिकरणों के संबंध में ऐसी स्थिति नहीं है; (बी) उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति की नियुक्ति के लिए निर्धारित योग्यताएँ तथा प्रदत्त संवैधानिक संरक्षण, उच्च न्यायालयों में कार्यरत न्यायाधीशों की स्वतंत्रता तथा दक्षता सुनिश्चित करते हैं। अधिकरणों के सदस्यों के लिए निर्धारित शर्तें तुलनीय नहीं हैं; (सी) जबकि उच्च न्यायालयों की अधिकारिता संवैधानिक रूप से संरक्षित है, किसी अधिकरण को उसके मूल अधिनियम को निरसित करके मात्र समाप्त किया जा सकता है; (डी) जबकि उच्च न्यायालयों का व्यय राज्यों की संचित निधि पर भारित होता है, अधिकरण अपने व्ययों की पूर्ति के लिए धनराशि के अनुदान हेतु समुचित सरकार पर निर्भर रहते हैं। ये तथा अन्य भिन्नताएँ ऐसी स्थिति उत्पन्न करती हैं जिसके कारण अधिकरण, अपनी स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले संवैधानिक संरक्षणों से वंचित होने के कारण, उच्च न्यायालयों के प्रभावी प्रतिस्थापक बनने में असमर्थ हैं; (v) हमारी संवैधानिक योजना के अधीन, प्रत्येक उच्च न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के कारण, अपनी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर कार्यरत राज्य के सभी प्राधिकारों तथा

साधनताओं को विशेषाधिकार रिट अथवा आदेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। ऐसी स्थिति में, किसी उच्च न्यायालय की प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर स्थित कोई भी प्राधिकार अथवा अधिकरण उसके द्वारा घोषित विधि की अवहेलना नहीं कर सकता। आक्षेपित संवैधानिक उपबंध, जहाँ तक वे उच्च न्यायालयों को अपनी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर स्थित सभी अधिकरणों तथा न्यायालयों पर अधीक्षण की शक्ति से वंचित करने का प्रयास करते हैं, संविधान की मूल संरचना का उल्लंघन करते हैं; तथा (vi) उपर्युक्त प्रतिपादनों के दृष्टिगत, *सम्पत कुमार के वाद* में दिए गए विनिर्णय का व्यापक पुनर्विलोकन अपेक्षित है।

1996 की दीवानी अपील संख्या 1532-33 में उत्तरदाता की ओर से उपस्थित श्री शांति भूषण ने निम्नलिखित निवेदन प्रस्तुत किए : (i) संविधान का 42वाँ संशोधन, जिसके द्वारा आक्षेपित संवैधानिक उपबंधों का समावेश किया गया, को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। 42वाँ संशोधन, स्थापित न्यायिक संस्थाओं के प्रति अविश्वास की भावना से प्रेरित होकर, शब्द तथा भावना दोनों में, संवैधानिक न्यायालयों को उनकी अधिकारिता से वंचित करने का प्रयास करता था। उद्देश्य ऐसी संवैधानिक अधिकारिता को ऐसे सृजनों में निहित करना था, जिनकी स्थापना तथा कार्यकरण को कार्यपालिका द्वारा नियंत्रित किया जा सके। ऐसा आशय अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के स्पष्ट शब्दों से प्रकट होता है, जो संविधान के अनुच्छेद 32, 226 तथा 227 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में निहित अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं; (ii) आक्षेपित उपबंधों की वैधता का निर्धारण, उनके द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया गया है, इससे निरपेक्ष होकर किया जाना चाहिए। *सम्पत कुमार के वाद* में, इस सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी जाँच को अधिनियम तक सीमित रखा, जिसने अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारिता का अपवर्जन नहीं

किया था, तथा अनुच्छेद 323ए(2)(डी) की संवैधानिकता के व्यापक प्रश्न का परीक्षण नहीं किया, जबकि वह स्पष्ट शब्दों में संसद को सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करने की अनुमति देता है। यह सही दृष्टिकोण नहीं था क्योंकि किसी उपबंध की संवैधानिकता का निर्णय केवल इस आधार पर नहीं किया जाना चाहिए कि उसके अधीन शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया जाना प्रस्तावित है। सही कसौटी यह है कि उस उपबंध को संवैधानिक योजना के साथ मिलाकर देखा जाए और तत्पश्चात् उसकी संगतता पर निर्णय दिया जाए। अनुच्छेद 323ए(2)(डी) में दोष यह है कि वह संसद को भविष्य में ऐसा विधि अधिनियमित करने की अनुमति देता है जो अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करे। भविष्य में संवैधानिक अनिष्ट उत्पन्न करने की ऐसी क्षमता से युक्त होने के कारण, उसकी वैधता को बनाए नहीं रखा जा सकता; (iii) इस सर्वोच्च न्यायालय में अनुच्छेद 32 के अधीन तथा उच्च न्यायालय में अनुच्छेद 226 के अधीन निहित न्यायिक समीक्षा की शक्ति संविधान की मूल संरचना का भाग है। *केशवानंद भारती के वाद, फर्टिलाइज़र कॉर्पोरेशन कामगार यूनियन बनाम भारत संघ,* [1981] 1 एस.सी.सी. 568 तथा *दिल्ली न्यायिक सेवा संघ बनाम गुजरात राज्य,* [1991] 4 एस.सी.सी. 406 के विनिर्णयों के प्रासंगिक अंश संविधान के अनुच्छेद 32 को दिए गए महत्व को रेखांकित करते हैं; (iv) *सम्पत कुमार के वाद* में प्रतिपादित वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों का सिद्धांत इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि उच्च न्यायालयों में निहित न्यायिक समीक्षा में केवल उच्च न्यायालयों को प्रदत्त शक्ति ही नहीं, बल्कि स्वयं उच्च न्यायालय भी सम्मिलित हैं, जो गौरवशाली न्यायिक परंपराओं से संपन्न संस्थाएँ हैं। उच्च न्यायालय 19वीं शताब्दी से अस्तित्व में थे तथा एक गौरवशाली अतीत से युक्त थे, जिसने उन्हें जनता का विश्वास प्राप्त करने में सक्षम

बनाया। यही वह कारण था जिसने हमारे संविधान-निर्माताओं को ऐसी संवैधानिक अधिकारिता उनमें निहित करने के लिए प्रेरित किया। एक अधिकरण, कार्यपालिका की नवीन सृष्टि होने के कारण, एक समान परंपरा तथा वातावरण का रात्रोंरात्रि पुनर्निर्माण नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप, परंपराओं के निर्माण के अनुकूल वातावरण के अभाव में, ऐसे वैकल्पिक तंत्र संवैधानिक अधिकारिता के प्रयोग के लिए उच्च न्यायालयों के प्रभावी विकल्प के रूप में कार्य करने में सक्षम नहीं होंगे। *प्रतिभा बनर्जी बनाम भारत संघ,* [1995] 6 एस.सी.सी. 765 में, इस सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की विशेष संवैधानिक स्थिति का विश्लेषण किया है तथा स्पष्ट किया है कि वे न्यायपालिका के अन्य स्तरों से किस प्रकार भिन्न हैं।

1993 की दीवानी अपील संख्या 1532-33 में द्वितीय तथा तृतीय उत्तरदाताओं की ओर से उपस्थित श्री ए.के. गांगुली ने श्री रामा जोइस तथा श्री भूषण के तर्कों को अंगीकृत किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपने इस तर्क के समर्थन में कुछ प्राधिकारों का उल्लेख किया कि संविधान के उपबंधों का निर्वचन करने की शक्ति केवल संवैधानिक न्यायालयों में निहित है तथा उसे नवसृजित अर्ध-न्यायिक निकायों को प्रदान नहीं किया जा सकता, जो कार्यपालिका के प्रभावों के प्रति संवेदनशील होते हैं।

भारत के विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता श्री के.एन. भट्ट ने भारत संघ का प्रतिनिधित्व किया, जो 1994 की दीवानी अपील संख्या 169 तथा 1989 की दीवानी अपील संख्या 481 में एक पक्षकार है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं : (i) अनुच्छेद 323ए का खंड 2(डी) तथा अनुच्छेद 323बी का खंड 3(डी) इस आधार पर अपास्त नहीं किया जाना चाहिए कि वे संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का

अपवर्जन करते हैं। इस सर्वोच्च न्यायालय के अनेक विनिर्णयों के कारण, यह विधि का एक सुस्थापित प्रतिपादन है कि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता पवित्र है तथा निर्विवाद रूप से संविधान की मूल संरचना का एक भाग है। यह स्थिति संविधान के 42 वें संशोधन की परिकल्पना किए जाने से बहुत पहले ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की जा चुकी थी। अतः यह माना जाना चाहिए कि संसद ऐसी स्थिति से अवगत थी तथा यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारिता को प्रभावित करने का कोई अभिप्राय नहीं था। तथापि, अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों का सृजन करके हटाने का प्रयास किया गया था। *सम्पत कुमार के वाद* में प्रतिपादित सिद्धांत सुदृढ़ विचारों पर आधारित है तथा उसके किसी पुनर्विलोकन की आवश्यकता नहीं है; (ii) वैकल्पिक रूप से, अनुच्छेद 323 ए तथा 323 बी अपनी प्रादेशिक अधिकारिता के भीतर स्थित सभी अधिकरणों पर उच्च न्यायालयों की अधीक्षण अधिकारिता का अपवर्जन करने का प्रयत्न नहीं करते। इस दृष्टिकोण से देखने पर, उच्च न्यायालय अभी भी संशोधनात्मक अथवा अधीक्षण अधिकारिता का प्रयोग करने हेतु संवैधानिक शक्तियों से युक्त रहेंगे; (iii) चूँकि *अमूल्य चन्द्र के वाद* तथा *डॉ. महाबल राम के वाद* में इस सर्वोच्च न्यायालय के विनिर्णयों ने स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया है कि किसी उपबंध की वैधता से संबंधित विषयों का निस्तारण न्यायिक सदस्य से युक्त पीठ द्वारा किया जाना है तथा भविष्य में इन दिशानिर्देशों का पालन किया जाएगा, इसलिए धारा 5(6) में असंवैधानिकता का कोई दोष नहीं है।

1994 की दीवानी अपील संख्या 196 तथा उससे संबद्ध विशेष अनुमति याचिकाओं में आंध्र प्रदेश राज्य की ओर से विद्वान अधिवक्ता श्री पी.पी. राव ने निम्नलिखित निवेदन प्रस्तुत किए : (i) हमारे समक्ष का विषय एक अत्यंत गंभीर, जीवंत समस्या से संबंधित है, जिसका निर्णय सिद्धांतवादी, प्रतिद्वंद्वी प्रक्रिया के स्थान पर व्यावहारिक, सहयोगात्मक दृष्टिकोण अपनाकर किया जाना आवश्यक है। यह एक तथ्य है कि प्रशासनिक अधिकरण, जिनकी परिकल्पना उच्च न्यायालयों के प्रतिस्थापक के रूप में की गई थी, अपेक्षाओं पर खरे नहीं उतरे हैं और इसके स्थान पर अनेक प्रकार से अपर्याप्त तथा अप्रभावी सिद्ध हुए हैं। तथापि, आक्षेपित संवैधानिक उपबंधों को अपास्त करना, समस्या का उपचार करने के स्थान पर, उसकी गंभीरता को और बढ़ाएगा। उच्च न्यायालयों में लंबित मामलों की समस्या, जो अनेक दशकों से चिंता का विषय रही है, अनेक विशेषज्ञ समितियों तथा आयोगों के ध्यान का केंद्र रही है। नवीन संस्थापनों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि तथा विशाल लंबित मामलों ने यथार्थवादी समाधान खोजने की आवश्यकता उत्पन्न कर दी है, जिससे उच्च न्यायालय अपने कर्तव्यों के निर्वहन में असमर्थ न हो जाएँ। इन विशेषज्ञ समितियों का निरंतर मत यह रहा है कि स्थिति को बचाने का एकमात्र उपाय यह है कि उच्च न्यायालयों की कुछ अधिकारिता, अपेक्षाकृत कम महत्त्व वाले क्षेत्रों में, विशेष रूप से गठित अधिकरणों को स्थानांतरित कर दी जाए, जो उच्च न्यायालयों के प्रतिस्थापक के रूप में कार्य करें। *सम्पत कुमार के वाद* में, इस सर्वोच्च न्यायालय को प्रशासनिक अधिकरणों के रूप में उच्च न्यायालय के ऐसे प्रतिस्थापक की व्यवस्था की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करनी थी। वाद का निर्णय करते समय, इस सर्वोच्च न्यायालय ने वास्तव में समय-समय पर पारित आदेशों तथा निर्देशों की श्रृंखला के माध्यम से अधिनियम में किए जाने वाले संशोधनों की निगरानी

की थी, क्योंकि विद्यमान महान्यायवादी ने अधिनियम की त्रुटियों को दूर करने के लिए आवश्यक संशोधन करने का प्रस्ताव दिया था। अधिनियम में आवश्यक संशोधन किए जाने के पश्चात्, यह सर्वोच्च न्यायालय इस बात से संतुष्ट था कि उसे अपास्त करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका मत था कि अधिनियम सेवा विवादों के निस्तारण हेतु उच्च न्यायालयों के लिए एक प्रभावी वैकल्पिक मंच उपलब्ध कराएगा। तथापि, पिछले दशक के दौरान अधिकरणों के वास्तविक कार्यकरण ने अनेक कमियों को उजागर किया है, जिन्हें दूर किया जाना आवश्यक है। तथापि, उपचार संवैधानिक उपबंधों को अपास्त करने में नहीं, बल्कि भारत संघ को अधिनियम में और संशोधन करने की अनुमति देने में निहित है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि अधिकरण प्रभावी वैकल्पिक मंच बन जाएँ; (ii) अनुच्छेद 323 ए(2)(डी) संविधान की मूल संरचना का उल्लंघन नहीं करता। *केशवानंद भारती के वाद* में की गई प्रासंगिक टिप्पणियाँ यह दर्शाती हैं कि संविधान के पृथक-पृथक उपबंधों तथा संविधान की मूल विशेषताओं के बीच अंतर्निहित भेद है। जबकि संविधान की मूल विशेषताओं को संविधान में संशोधन करके भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता, संविधान के प्रत्येक उपबंध में अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन किया जा सकता है। *केशवानंद भारती के वाद* में बहुमत के विनिर्णयों ने स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया है कि शक्तियों के पृथक्करण की अवधारणा संविधान की एक मूल विशेषता है। अतः यह अनुसरण करता है कि न्यायिक समीक्षा की शक्ति, जो न्यायपालिका की स्वतंत्रता का एक आवश्यक सहवर्ती तत्व है, हमारे संविधान की एक मूल विशेषता भी है। तथापि, इससे यह अनुसरण नहीं करता कि अनुच्छेद 32 अथवा अनुच्छेद 226 जैसे विशिष्ट उपबंध स्वयं संविधान की मूल संरचना का भाग हैं। इस संबंध में, अनुच्छेद 31 के इतिहास का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसमें

संपत्ति का एक मूल अधिकार निहित था और जिसे भाग III से भाग XII के अध्याय IV में स्थानांतरित कर दिया गया था; (iii) न्यायिक समीक्षा की शक्ति का सार यह है कि वह सदैव न्यायपालिका के पास बनी रहनी चाहिए तथा उसे कार्यपालिका अथवा विधायिका को समर्पित नहीं किया जाना चाहिए। चूँकि आक्षेपित उपबंध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता को संरक्षित रखते हैं, जिससे न्यायपालिका को प्रत्येक प्रकार के न्यायनिर्णयन में अंतिम निर्णय देने का अधिकार प्राप्त रहता है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि न्यायिक समीक्षा की मूल विशेषता का उल्लंघन किया गया है। संवैधानिक निषेध न्यायपालिका के बाहर की संस्थाओं को न्यायिक शक्ति प्रदान करने के विरुद्ध है। तथापि, यदि न्यायिक संरचना के भीतर, न्याय के बेहतर प्रशासन के हित में, संविधान के अनुच्छेद 32 तथा 226 के अधीन अधिकारिता को सीमित करने की व्यवस्थाएँ की जाती हैं, तो उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं हो सकती। वास्तव में, न्याय के बेहतर प्रशासन के हित में, इस सर्वोच्च न्यायालय ने, मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामलों में भी, पक्षकारों से यह अपेक्षा करने की प्रथा विकसित की है कि वे संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन सीधे इस सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष आने के स्थान पर संबंधित उच्च न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन जाएँ। निस्संदेह, इसका प्रभाव इस सर्वोच्च न्यायालय की अनुच्छेद 32 के अधीन अधिकारिता को सीमित करने का होता है, किन्तु न्याय के समुचित प्रशासन के लिए आवश्यक होने के कारण इसे असंवैधानिक नहीं कहा जा सकता। सेवा विषय, जो मूलतः आंतरिक विवादों की प्रकृति के होते हैं तथा मूल अधिकारों से संबंधित विषयों की अपेक्षा कम महत्व के होते हैं, को भी इसी तर्क के आधार पर अधिकरणों को स्थानांतरित किया जा सकता है; (iv) आदेश XXVII-ए, नियम 1ए के आधार पर,

साधारण दीवानी न्यायालयों को वैधानिक नियमों तथा लिखतों की वैधता से संबंधित प्रश्नों का न्यायनिर्णयन करने के लिए सशक्त किया गया है। इस स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए, अधिकरणों को समान शक्तियाँ प्रदान करने में कोई संवैधानिक कठिनाई नहीं है; (v) वैकल्पिक रूप से, यदि हम यह दृष्टिकोण ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त हों कि विधायी अधिनियमनों की न्यायिक समीक्षा की शक्ति किसी भी स्थिति में किसी अन्य न्यायालय अथवा अधिकरण को प्रदान नहीं की जा सकती, तो हम आक्षेपित संवैधानिक उपबंधों को संरक्षित रखने के लिए *रीडिंग डाउन (संकीर्ण निर्वचन)* के सिद्धांत का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार निर्वचित किए जाने पर, उच्च न्यायालय सेवा विवादों के क्षेत्र में भी किसी अधिनियम की वैधता का निर्णय करने की अधिकारिता बनाए रखेंगे और इस प्रकार संवैधानिक प्रश्नों से संबंधित विषयों के संबंध में अधिकरणों पर अधीक्षणात्मक भूमिका का निर्वहन करेंगे।

1993 की दीवानी अपील संख्या 1532-33 तथा 1996 की विशेष अनुमति याचिका संख्या 1063 में पश्चिम बंगाल राज्य का प्रतिनिधित्व करते हुए श्री के.के. वेणुगोपाल ने इस तर्क को पुनः दोहराते हुए आरम्भ किया कि आक्षेपित उपबंध संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करने का प्रयास नहीं करते, जो संविधान की एक मूल विशेषता है। उनका वैकल्पिक तर्क यह था कि चूँकि ये उपबंध अनुच्छेद 136 के अधीन अधिकारिता का अपवर्जन नहीं करते और चूँकि अनुच्छेद 32(3) स्वयं उस अधिकारिता के प्रत्यायोजन की परिकल्पना करता है, इसलिए अनुच्छेद 32 के

अधीन अधिकारिता का अपवर्जन असंवैधानिक नहीं था। यह निवेदन इस तर्क पर आधारित था कि किसी विशिष्ट संवैधानिक निषेध के अभाव में, संसद तथा राज्य विधानमंडल दोनों इस सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की मूल अधिकारिता में परिवर्तन करने हेतु पर्याप्त विधायी शक्तियों से युक्त थे। तत्पश्चात् उन्होंने कहा कि यदि हम पूर्ववर्ती किसी भी तर्क के अनुरूप अभिनिर्धारित करने के लिए प्रवृत्त न हों, तो पृथक्करणीयता के सिद्धांत का प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि उपबंधों में से "अनुच्छेद 136 के अधीन" शब्दों को पृथक कर दिया जाए और इस प्रकार उन्हें असंवैधानिकता के दोष से बचाया जा सके। इसके पश्चात् उन्होंने *सम्पत कुमार के वाद* में प्रतिपादित वैकल्पिक संस्थागत तंत्र के सिद्धांत की न्यायशास्त्रीय सुदृढ़ता को हमारे समक्ष प्रतिपादित करने का प्रयास किया। तत्पश्चात् उन्होंने तर्क दिया कि अधिकरणों की संरचना, उनके कार्मिकों के चयन, उनकी नियुक्ति की पद्धतियों आदि में जो कमियाँ हैं, वे विधायी तथा कार्यपालिका के निर्णय संबंधी त्रुटियों का परिणाम हैं; ये कमियाँ मूल संवैधानिक उपबंधों की संवैधानिकता को प्रभावित नहीं कर सकतीं। उन्होंने यह उद्घोषणा करते हुए अपना निवेदन समाप्त किया कि ये संवैधानिक संशोधन, उच्च न्यायालयों में न्याय वितरण की अप्रभावी व्यवस्था की विद्यमान समस्या के उपचार हेतु, संसद की संविधान संशोधन शक्ति के प्रयोग में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा विधिपूर्वक समाविष्ट किए गए थे। उन्होंने हमें यह परामर्श दिया कि संसद द्वारा अपनी संविधान संशोधन शक्ति के प्रयोग में विकसित नीति के स्थान पर हम अपना निर्णय प्रतिस्थापित न करें तथा *सम्पत कुमार के वाद* की भाँति, वर्तमान व्यवस्था की कमियों को दूर करने हेतु उपयुक्त संशोधनों का सुझाव दें।

1990 की रिट याचिका संख्या 789 में याचिकाकर्ता श्री किरण के. शाह, जो केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण की अहमदाबाद पीठ के समक्ष विधि-व्यवसाय करते हैं, ने केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के समक्ष अपने वाद प्रस्तुत करने में अधिवक्ताओं द्वारा सामना की जाने वाली व्यावहारिक समस्याओं तथा उनके आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन के संबंध में अनेक शिकायतों से हमें अवगत कराने का प्रयास किया।

1989 की दीवानी अपील संख्या 481 में द्वितीय उत्तरदाता, केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण की प्रधान पीठ के रजिस्ट्रार, का हमारे समक्ष प्रतिनिधित्व श्री कपिल सिब्बल द्वारा किया गया। रजिस्ट्रार का पक्ष यह है कि अधिकरण, जिस प्रकार वर्तमान में कार्य कर रहे हैं, उच्च न्यायालयों के प्रभावी प्रतिस्थापक नहीं हैं। तथापि, वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों का सृजन, जब तक वह संवैधानिक न्यायालयों के समान प्रभावकारी है, मूल संरचना का उल्लंघन नहीं है। उन्होंने हमसे अधिकरणों में प्रशासनिक सदस्यों की नियुक्ति को बंद करने तथा यह सुनिश्चित करने का आग्रह किया कि अधिकरणों के सदस्यों को पदावधि की सुरक्षा प्राप्त हो, जो उनकी स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए एक आवश्यक पूर्वापेक्षा है।

भारत के विद्वान अपर महान्यायाभिकर्ता श्री वी.आर. रेड्डी ने हमारा ध्यान मद्रास उच्च न्यायालय के उस निर्णय की ओर आकर्षित किया, जो 1991 की विशेष अनुमति याचिका संख्या 17768 में चुनौती का विषय है। श्री रेड्डी ने हमें यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि *सम्पत कुमार के वाद* में दिए गए विनिर्णय के पश्चात् *तमिलनाडु भूमि सुधार विशेष अपीलीय अधिकरण* का सृजन करने वाली विधि में समाविष्ट संशोधनों का प्रभाव यह है कि वह उच्च न्यायालयों का एक उपयुक्त तथा प्रभावी प्रतिस्थापक बन गया है। उन्होंने

यह भी निवेदन किया कि भूमि सुधार विधि की उस शाखा में विवादों के प्रभावी निस्तारण के लिए भूमि सुधार अधिकरण का कार्यकरण आवश्यक था।

अब हम उन मुख्य प्रश्नों पर विचार कर सकते हैं, जिन्हें इस निर्णय के प्रारंभ में इस वाद-समूह के न्यायनिर्णयन के लिए केंद्रीय महत्व का बताया गया है। इसके लिए न्यायिक समीक्षा की शक्ति का मूल्यांकन तथा उस प्रकार और उन साधनों की समझ आवश्यक होगी, जिनके माध्यम से उसका प्रयोग किया जाना है।

एम.एन. राव, न्यायमूर्ति द्वारा प्रदत्त आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय का मूल विषय यह है कि न्यायिक समीक्षा की शक्ति हमारे संविधान की मूल विशेषताओं में से एक है तथा उस शक्ति का वह पक्ष, जो न्यायालयों को वैधानिक उपबंधों की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने में सक्षम बनाता है, केवल संवैधानिक न्यायालयों अर्थात् उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय में ही निहित है। इस संबंध में, संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद III के अधीन सृजित न्यायालयों के संबंध में अमेरिकी संवैधानिक विधि की स्थिति का विश्लेषण किया गया है और यह कहा गया है कि अनुच्छेद III के न्यायालयों (संवैधानिक न्यायालयों) के कार्यों का निर्वहन कांग्रेस द्वारा अपनी विधायी शक्ति के प्रयोग में स्थापित अन्य विधायी न्यायालयों द्वारा नहीं किया जा सकता। इस प्रतिपादन के समर्थन में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के निम्नलिखित विनिर्णयों का उल्लेख किया गया है : *नेशनल म्यूचुअल इंश्योरेंस कंपनी ऑफ द डिस्ट्रिक्ट ऑफ कोलंबिया बनाम टाइडवाटर ट्रांसफर कंपनी*, 93 एल. एड. 1156 - 337 यू.एस. 582, *थॉमस एस. विलियम बनाम यूनाइटेड स्टेट्स*, 77 एल. एड. 1372 - 289 यू.एस. 553, *कूपर बनाम एरन*, 3 एल.

एड. 2डी 5 - 358 यू.एस. 1, *नॉर्दर्न पाइपलाइन कंस्ट्रक्शन कंपनी बनाम मैराथन पाइपलाइन कंपनी एवं यूनाइटेड स्टेट्स*, 73 एल. एड. 2डी 59 - 458 यू.एस. 50।

हम अमेरिकी संवैधानिक विधि में स्थिति का संक्षेप में उल्लेख कर सकते हैं, उस सीमा तक जहाँ तक वह हमारे प्रयोजन के लिए प्रासंगिक है। जैसा कि विख्यात अमेरिकी संवैधानिक विधि विद्वान हेनरी जे. अब्राहम द्वारा इंगित किया गया है, संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायिक समीक्षा में किसी भी न्यायालय की वह शक्ति सम्मिलित है जिसके द्वारा वह किसी विधि, किसी विधि पर आधारित किसी आधिकारिक कार्रवाई अथवा किसी लोक अधिकारी द्वारा की गई किसी अन्य कार्रवाई को, जिसे वह मूल विधि अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के साथ संघर्षरत मानता है, असंवैधानिक तथा परिणामस्वरूप अप्रवर्तनीय घोषित कर सकता है। (*[1]) आगे यह भी कहा गया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायिक समीक्षा की अत्यंत महत्त्वपूर्ण शक्ति सैद्धांतिक रूप से प्रत्येक अभिलेख न्यायालय को प्राप्त है, चाहे वह न्यायिक श्रेणीक्रम में कितना ही उच्च अथवा निम्न स्तर का क्यों न हो। यद्यपि ऐसा विरल रूप से होता है, तथापि यह पूर्णतः संभव है कि 50 राज्यों में से किसी एक राज्य के निम्न स्तरीय न्यायालय का कोई न्यायमूर्ति किसी संघीय विधि को असंवैधानिक घोषित कर दे।

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद III की धारा 1 के पाठ का विश्लेषण करके इस स्थिति को अधिक अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है :

1 हेमी जे. अब्राहम, *द ज्यूडिशियल प्रोसेस*, 4 था संस्करण.. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1980) पृ. 296.

"अनुच्छेद III, धारा 1 - संयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक शक्ति एक सर्वोच्च न्यायालय तथा ऐसे अधीनस्थ न्यायालयों में निहित होगी, जिन्हें कांग्रेस समय-समय पर अधिनिर्दिष्ट और स्थापित करे। सर्वोच्च तथा अधीनस्थ दोनों प्रकार के न्यायालयों के न्यायमूर्ति, सदाचार की अवधि तहेमी जे. अब्राहम, द ज्यूडिशियल प्रोसेस, 4 था संस्करण.. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (1980) पृ. 296.क अपने पद धारण करेंगे तथा निर्धारित समय पर अपनी सेवाओं के लिए ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेंगे, जिसे उनके पद पर बने रहने की अवधि के दौरान कम नहीं किया जाएगा।"

(बल दिया गया)

अतः आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय का निर्णय इस बात का प्रतिपादन करने में सही है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद III में निहित न्यायिक शक्ति का प्रयोग केवल अनुच्छेद III की धारा 1 के अधीन सृजित न्यायालयों द्वारा ही किया जा सकता है। तथापि, जिस तथ्य पर बल दिया जाना चाहिए वह यह है कि अनुच्छेद III स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस द्वारा ऐसी न्यायिक शक्ति को अधीनस्थ न्यायालयों में निहित किए जाने की परिकल्पना करता है, बशर्ते कि अनुच्छेद III की धारा 1 के अनुसार न्यायाधीशों की स्वतंत्रता सुनिश्चित की जाए। इस विश्लेषण से जो प्रतिपादन उभरकर सामने आता है वह यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में, यद्यपि न्यायिक शक्ति की अवधारणा को अत्यधिक संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया है, तथापि संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय

के अतिरिक्त अन्य न्यायालयों को न्यायिक शक्ति प्रदान किए जाने पर कोई सर्वथा निषेध नहीं है।

हेनरी जे. अब्राहम द्वारा अमेरिकी संदर्भ में दी गई न्यायिक समीक्षा की परिभाषा, कुछ संशोधनों के अधीन, भारतीय संवैधानिक विधि में समझी जाने वाली अवधारणा पर भी समान रूप से लागू होती है। व्यापक रूप से कहा जाए तो, भारत में न्यायिक समीक्षा में तीन पहलू सम्मिलित हैं : विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा, न्यायिक विनिर्णयों की न्यायिक समीक्षा तथा प्रशासनिक कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा। वर्तमान में, हम केवल प्रथम दो पहलुओं को समझने से संबंधित हैं।

आधुनिक युग में, विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति की उत्पत्ति का पता संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश जॉन मार्शल द्वारा *मारबरी बनाम मैडिसन*, 1 क्रैंच 137 (1803) में किए गए सिद्धांत के प्रसिद्ध प्रतिपादन से लगाया जा सकता है :

> "*यह न्यायिक विभाग का विशेष क्षेत्र तथा कर्तव्य है कि वह बताए कि विधि क्या है।* जो लोग किसी विशेष वाद में नियम को लागू करते हैं, उन्हें अनिवार्यतः उस नियम का निर्वचन तथा व्याख्या करनी होती है ... संविधान के प्रतिकूल कोई विधि शून्य है ... अन्य विभागों की भाँति न्यायालय भी उस लिखत से बंधे हुए हैं।"

(बल दिया गया)

संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्वयं में ऐसी शक्ति का ग्रहण कभी गंभीर रूप से चुनौती नहीं दिया गया और वर्षों के दौरान उसने इस शक्ति का अनेक वादों में प्रयोग किया, यद्यपि इस आलोचना का निरंतर अस्तित्व बना रहा कि ऐसा प्रयोग अलोकतांत्रिक था। वास्तव में, जब हमारे संविधान-निर्माताओं ने अपने महान कार्य का प्रारम्भ किया, तब वे भली-भाँति जानते थे कि न्यायालयों के पास विधिपूर्वक अधिनियमित विधियों को अवैध घोषित करने की शक्ति होने का सिद्धांत पहले ही लगभग डेढ़ शताब्दी का इतिहास प्राप्त कर चुका था।

इस सर्वोच्च न्यायालय के इतिहास के अत्यन्त प्रारम्भिक चरण में, जब इस बात पर संदेह व्यक्त किया गया था कि क्या ऐसी शक्ति का प्रयोग करना न्यायोचित है, तब पतंजलि शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश ने, सिद्धांत की आधारशिला को दृढ़तापूर्वक स्थापित करते हुए, निम्नानुसार अभिनिर्धारित किया (*मद्रास राज्य बनाम वी.जी. राव,* [1952] एस.सी.आर. 597, पृष्ठ 606 पर) :

> " ...[हमारे] संविधान में, अमेरिका के विपरीत, जहाँ सर्वोच्च न्यायालय ने पाँचवें तथा चौदहवें संशोधनों में निहित व्यापक रूप से निर्वचित "सम्यक् प्रक्रिया" उपबंध के आवरण में *विधायी अधिनियमों की समीक्षा करने की व्यापक शक्तियाँ ग्रहण कर ली हैं, संविधान के अनुरूपता के संबंध में विधियों की न्यायिक समीक्षा हेतु स्पष्ट उपबंध विद्यमान हैं।* यदि, तब, इस देश के न्यायालय ऐसे महत्त्वपूर्ण तथा कतई सरल न होने वाले कार्य का सामना करते हैं, तो यह किसी धर्मयोद्धा की भावना से विधायी प्राधिकार को चुनौती देने की इच्छा से नहीं, बल्कि *संविधान द्वारा उन पर स्पष्ट रूप से आरोपित कर्तव्य के निर्वहन में होता* है। यह विशेष रूप से "मूल अधिकारों" के

संबंध में सत्य है, जिनके विषय में इस न्यायालय को सदैव सतर्क प्रहरी की भूमिका प्रदान की गई है। यद्यपि न्यायालय स्वाभाविक रूप से विधायिका के निर्णय को अत्यधिक महत्व देता है, तथापि *वह किसी आक्षेपित अधिनियम की संवैधानिकता का अंतिम रूप से निर्धारण करने के अपने कर्तव्य का परित्याग नहीं कर सकता*।"

(बल दिया गया)

वर्षों के दौरान, इस सर्वोच्च न्यायालय को विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति के विषय में अपने विचार व्यक्त करने के अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं। इसके पश्चात् इस विषय पर प्रमुख उद्घोषणाओं का विश्लेषण किया जाता है।

बिड़ी सप्लाई कंपनी बनाम भारत संघ एवं अन्य, [1956] एस.सी.आर. 267 के पृष्ठ 284 पर पाँच-न्यायाधीशीय संवैधानिक पीठ के विनिर्णय में पृथक किन्तु सहमतिपूर्ण निर्णय देते हुए, न्यायमूर्ति बोस ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ कीं, जो वर्तमान संदर्भ में उपयुक्त हैं :

> "लोकतंत्र का हृदय और केंद्र न्यायिक प्रक्रिया में निहित है, और उसका अर्थ है ऐसे स्वतंत्र तथा निर्भीक न्यायमूर्ति, जो कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त हों तथा न्यायिक परंपराओं और न्यायिक कार्य एवं विचार की पद्धतियों में प्रशिक्षित हों। स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता के मुख्य दुर्ग वहीं स्थित हैं और मेरे लिए यह स्पष्ट है कि *ऐसे विषयों में, जो लोगों के जीवन तथा संपत्ति को गंभीर रूप से प्रभावित करते हैं, विवेकाधीन अनियंत्रित शक्तियाँ कार्यपालिका अथवा अर्ध-कार्यपालिका निकायों को नहीं सौंपी जा सकतीं, भले ही वे अर्ध-न्यायिक कृत्यों का निर्वहन करते हों, क्योंकि तब उन्हें ऐसी प्राधिकारिता प्राप्त हो जाती है जो स्वयं संसद के पास भी नहीं है। संविधान के अधीन, संसद के अधिनियम न्यायिक समीक्षा के*

अधीन होते हैं, विशेषकर जब यह कहा जाता है कि वे मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हैं; अतः यदि संविधान के अधीन स्वयं संसद को भी अनियंत्रित कार्य करने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है, तो यह स्पष्ट है कि वह ऐसी शक्ति अपने से निम्नतर प्राधिकारियों को प्रदान नहीं कर सकती।"

1964 का विशेष संदर्भ संख्या 1 एक ऐसा वाद था जिसमें इस सर्वोच्च न्यायालय की सात-न्यायाधीशीय संवैधानिक पीठ को संसदीय विशेषाधिकारों के जटिल प्रश्न पर अपना मत व्यक्त करना पड़ा था। ऐसा करते समय, न्यायालय को उस प्रकार पर विचार करना आवश्यक था जिसमें हमारे संविधान ने शासन के तीनों अंगों के मध्य शक्तियों का संतुलन परिकल्पित किया है और इसी संदर्भ में गजेन्द्रगडकर, मुख्य न्यायाधीश ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ कीं :

" ... [चाहे] भारतीय संविधान के अधीन शक्तियों का पृथक तथा कठोर पृथक्करण हो अथवा न हो, *इसमें कोई संदेह नहीं है कि संविधान ने इस देश की न्यायपालिका को संविधान के उपबंधों का निर्वचन करने तथा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करने का कार्य सौंपा है। जब किसी विधि को इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि उसे किसी विधायिका द्वारा अधिकार के बिना पारित किया गया है, अथवा उसने अन्यथा असंवैधानिक रूप से मूल अधिकारों का अतिक्रमण किया है, तब उस विवाद का निर्धारण करना तथा यह निर्णय करना कि विधायिका द्वारा पारित विधि वैध है अथवा नहीं, न्यायालयों का कार्य है।* जिस प्रकार विधायिकाओं को विधायी कृत्य प्रदान किए गए हैं तथा कार्यपालिका के कृत्य और प्राधिकार कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार के भीतर आते हैं, उसी प्रकार इस देश में

न्यायपालिका की अधिकारिता और प्राधिकार न्यायनिर्णयन के क्षेत्राधिकार के भीतर आते हैं। यदि किसी विधि की वैधता को न्यायालयों के समक्ष चुनौती दी जाती है, तो यह कभी सुझाव नहीं दिया जाता कि यह महत्वपूर्ण प्रश्न कि क्या विधायी प्राधिकार का अतिक्रमण किया गया है अथवा मूल अधिकारों का उल्लंघन किया गया है, स्वयं विधायिकाओं द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। *ऐसे विवाद का न्यायनिर्णयन केवल और अनन्य रूप से इस देश की न्यायपालिका को सौंपा गया है।"*

(बल दिया गया)

यह ध्यान देने योग्य है कि विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति की उत्पत्ति को केवल एक स्रोत से संबंधित नहीं माना गया है। जहाँ शास्त्री, मुख्य न्यायाधीश ने इस शक्ति का उल्लेख संविधान के पाठ में स्पष्ट रूप से निहित पाया, वहीं गजेन्द्रगडकर, मुख्य न्यायाधीश ने इसे उस प्रकार से उद्भूत मानना पसंद किया जिसमें संविधान ने शासन के तीनों अंगों के मध्य शक्तियों का पृथक्करण किया है।

केशवानंद भारती के वाद में, 13-न्यायाधीशीय संवैधानिक पीठ ने, 7:6 के बहुमत से, अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि अनुच्छेद 368 के आधार पर संसद संविधान में संशोधन करने के लिए सशक्त है, तथापि उस शक्ति का प्रयोग संविधान की मूल विशेषताओं को क्षति पहुँचाने अथवा उसकी मूल संरचना को नष्ट करने के लिए नहीं किया जा सकता। वे विशेषताएँ जो हमारे संविधान की मूल संरचना का गठन करती हैं, उनकी पहचान भारतीय संवैधानिक विधि में व्यापक वाद-विवाद का विषय रही है। यह कठिनाई इस तथ्य से और

बढ़ जाती है कि बहुमत के विनिर्णय भी इस पहलू पर सर्वसम्मत नहीं हैं। [बहुमत की ओर से पाँच विनिर्णय थे, जो सिकरी, मुख्य न्यायाधीश, शेलट एवं ग्रोवर, न्यायमूर्ति, हेगड़े एवं मुखर्जी, न्यायमूर्ति, जगन्मोहन रेड्डी, न्यायमूर्ति तथा खन्ना, न्यायमूर्ति द्वारा प्रदान किए गए थे। जबकि खन्ना, न्यायमूर्ति ने मूल विशेषताओं की सूची तैयार करने का प्रयास नहीं किया, अन्य न्यायमूर्तियों द्वारा मूल विशेषताओं की पहचान न्यायालय के विनिर्णयों के निम्नलिखित कंडिका में विनिर्दिष्ट है : सिकरी, मुख्य न्यायाधीश (कंडिका 292), शेलट एवं ग्रोवर, न्यायमूर्तिगण (कंडिका 582), हेगड़े एवं मुखर्जी, न्यायमूर्ति (कंडिका 632, 661) तथा जगन्मोहन रेड्डी, न्यायमूर्ति (कंडिका 1159, 1161)]। न्यायिक समीक्षा के पहलू का सभी बहुमत के विनिर्णयों में विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि, खन्ना, न्यायमूर्ति ने इस प्रश्न का प्रत्यक्ष रूप से निराकरण किया (कंडिका 1529 पर) :

> " ... तथापि, न्यायिक समीक्षा की शक्ति केवल यह निर्णय करने तक सीमित नहीं है कि आक्षेपित विधियों को बनाते समय केंद्रीय अथवा राज्य विधायिकाओं ने उनके लिए विनिर्दिष्ट विधायी सूचियों की सीमाओं के भीतर कार्य किया है अथवा नहीं; *न्यायालय इस प्रश्न का भी निराकरण करते हैं कि क्या विधियाँ संविधान के अन्य उपबंधों के अनुरूप बनाई गई हैं और उनका उल्लंघन नहीं करती हैं* ... जब तक कुछ मूल अधिकार अस्तित्व में हैं और संविधान का भाग हैं, तब तक न्यायिक समीक्षा की शक्ति का प्रयोग यह देखने के लिए भी किया जाना है कि उन अधिकारों द्वारा प्रदान की गई गारंटियों का उल्लंघन न हो ... *इस प्रकार न्यायिक समीक्षा हमारी संवैधानिक व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन गई है और उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय में वैधानिक उपबंधों की संवैधानिक वैधता के*

विषय में निर्णय करने की शक्ति निहित की गई है। यदि किसी अधिनियम के उपबंध संविधान के किसी ऐसे अनुच्छेद का उल्लंघन करने वाले पाए जाते हैं, जो सभी विधियों की वैधता की कसौटी है, तो सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय उक्त उपबंधों को अपास्त करने के लिए सशक्त हैं।"

(बल दिया गया)

शेलट एवं ग्रोवर, न्यायमूर्तिगण ने, अनुच्छेद 32 एवं 226 के संबंध में उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हुए, तथापि इस प्रश्न के प्रति एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाया (कंडिका 577 पर) :

"संविधान में स्वयं पर्याप्त साक्ष्य विद्यमान हैं जो यह इंगित करते हैं कि वह नियंत्रणों और संतुलनों की एक व्यवस्था का सृजन करता है, जिसके कारण शक्तियों का इस प्रकार वितरण किया गया है कि उसके द्वारा स्थापित तीन अंगों में से कोई भी इतना प्रमुख नहीं बन सकता कि वह अन्य अंगों को उन्हें सौंपित शक्तियों तथा कृत्यों के प्रयोग और निर्वहन से वंचित कर दे। यद्यपि संविधान शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को उसकी सम्पूर्ण कठोरता में स्थापित नहीं करता, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में है, तथापि वह ऐसे पृथक्करण की उस सीमा तक परिकल्पना करता है जैसा कि *रणसिंघे के वाद* (उपर्युक्त) में पाया गया था। *हमारे संविधान में अनुच्छेद 226 तथा 32 के माध्यम से स्पष्ट रूप से उपबंधित न्यायिक समीक्षा उन विशेषताओं में से एक है, जिस पर नियंत्रणों और संतुलनों की व्यवस्था आधारित है।"*

(बल दिया गया)

इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण में, पाँच-न्यायाधीशीय संवैधानिक पीठ को, अन्य बातों के साथ-साथ, उन उपबंधों की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करनी थी, जो निर्वाचन विषयों में सर्वोच्च न्यायालय सहित सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन करते थे। परिणामस्वरूप, न्यायालय को न्यायिक समीक्षा की अवधारणा पर अपना मत व्यक्त करना आवश्यक था। यद्यपि सभी पाँच न्यायाधीशों ने आक्षेपित उपबंध को अपास्त करने के लिए सहमतिपूर्ण विनिर्णय दिए, तथापि न्यायिक समीक्षा के प्रश्न पर उनके विचारों में पर्याप्त भिन्नताएँ थीं। रे, मुख्य न्यायाधीश का मत था कि न्यायिक समीक्षा की अवधारणा, यद्यपि अमेरिकी संवैधानिक विधि की एक विशिष्ट विशेषता है, हमारे संविधान के किसी विशिष्ट अनुच्छेद पर आधारित नहीं है। उन्होंने यह टिप्पणी की कि अनेक विषयों में न्यायिक समीक्षा का अपवर्जन किया गया है और निर्वाचन विषयों में न्यायिक समीक्षा कोई अनिवार्यता नहीं है। तथापि, उन्होंने अभिनिर्धारित किया कि हमारा संविधान शासन के तीन प्रमुख कृत्यों के विभाजन को मान्यता देता है और न्यायिक शक्ति, जो न्यायपालिका में निहित है, उसे कार्यपालिका अथवा विधायिका को हस्तांतरित अथवा उनके साथ साझा नहीं किया जा सकता। (कंडिका 32, 43, 46, 52)। खन्ना, न्यायमूर्ति का मत था कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत यह आवश्यक नहीं है कि निर्वाचनों की वैधता से संबंधित विवादों का निस्तारण विधि के न्यायालयों द्वारा ही किया जाए; तथापि, उनका यह विचार था कि इसके बावजूद विधायिका को यह घोषित करने की अनुमति नहीं दी जा सकती कि किसी विशिष्ट निर्वाचन की वैधता को किसी मंच के समक्ष चुनौती नहीं दी जाएगी और विवादों के अस्तित्व के बावजूद वह वैध माना जाएगा। (कंडिका 207) । माथ्यू, न्यायमूर्ति ने अभिनिर्धारित किया कि जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया में न्यायिक शक्ति केवल न्यायालयों में

निहित है, वहीं भारत के सर्वोच्च न्यायालय तथा उसके अधीनस्थ न्यायालयों में न्यायिक शक्ति का ऐसा अनन्य निहितीकरण नहीं है। अतः संसद, अपनी अधिकारिता के भीतर विधि बनाकर, किसी विवाद के निस्तारण हेतु किसी भी प्राधिकारी में न्यायिक शक्ति निहित कर सकती है। (कंडिका 322 तथा 323) । बेग, न्यायमूर्ति ने अभिनिर्धारित किया कि साधारण विधियों तथा संवैधानिक संशोधनों की वैधता की संविधान में निर्धारित मानकों के आधार पर परीक्षा करने की न्यायालयों की शक्ति, संविधान की 'संविधान की सर्वोच्चता' से प्रवाहित होती है, जो संविधान की एक मूल विशेषता है। (कंडिका 622)। चन्द्रचूड़, न्यायमूर्ति का मत था कि यह तर्क कि न्यायिक समीक्षा मूल संरचना का एक भाग है और निर्वाचन विषयों में न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन करने का कोई भी प्रयास असंवैधानिक है, अत्यधिक व्यापक रूप से व्यक्त किया गया है। उन्होंने इंगित किया कि मूल रूप से अधिनियमित संविधान ने स्वयं अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों में न्यायिक समीक्षा का स्पष्ट रूप से अपवर्जन किया था। समर्थन में अनुच्छेद 136(2) तथा 226(4) [सशस्त्र बलों से संबंधित विधियों में समीक्षा का अपवर्जन], अनुच्छेद 262(2) [नदी विवादों में समीक्षा का अपवर्जन], अनुच्छेद 103(1) [संसद सदस्यों की निरर्हता में समीक्षा का अपवर्जन], तथा अनुच्छेद 329(ए) [निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन तथा संबंधित विषयों से संबंधित विधियों में समीक्षा का अपवर्जन] के उदाहरणों का उल्लेख किया गया। इस विश्लेषण के आधार पर, चन्द्रचूड़, न्यायमूर्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चूँकि मूल रूप से अधिनियमित संविधान ने यह नहीं माना कि निर्वाचनों की शुचिता के हित में न्यायिक शक्ति का हस्तक्षेप आवश्यक है, अतः विधायी निर्वाचनों के संबंध में न्यायिक समीक्षा को मूल संरचना का भाग नहीं माना जा सकता।

पूर्वगामी विश्लेषण यह प्रकट करता है कि *इंदिरा गांधी के वाद* में न्यायाधीशों ने, जिनमें से सभी *केशवानंद भारती के वाद* के पक्षकार थे, न्यायिक समीक्षा की अवधारणा के प्रति समान दृष्टिकोण नहीं अपनाया। जबकि बेग, न्यायमूर्ति ने स्पष्ट रूप से अपना मत व्यक्त किया कि न्यायिक समीक्षा संविधान की मूल संरचना का एक भाग है, रे, मुख्य न्यायाधीश तथा माथ्यू, न्यायमूर्ति ने इंगित किया कि अमेरिकी संदर्भ के विपरीत, भारत के संविधान द्वारा न्यायिक शक्ति को स्पष्ट रूप से न्यायपालिका में निहित नहीं किया गया है। खन्ना, न्यायमूर्ति ने इस पहलू पर अपना मत व्यक्त नहीं किया, किन्तु *केशवानंद भारती के वाद* में उनकी स्पष्ट टिप्पणियों को देखते हुए, इस विषय पर उनके विचारों को स्पष्ट माना जा सकता है। चन्द्रचूड़, न्यायमूर्ति ने इंगित किया कि संविधान स्वयं अनेक विषयों में न्यायिक समीक्षा का अपवर्जन करता है और उनका मत था कि निर्वाचन विषयों में न्यायिक समीक्षा कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है।

मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ में, इस सर्वोच्च न्यायालय की पाँच-न्यायाधीशीय संवैधानिक पीठ को संविधान (बयालीसवाँ संशोधन) अधिनियम, 1976 के कुछ उपबंधों की वैधता पर विचार करना था, जिन्होंने, अन्य बातों के साथ-साथ, न्यायिक समीक्षा का अपवर्जन किया था। बहुमत की ओर से चार न्यायाधीशों के लिए चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश द्वारा प्रदत्त विनिर्णय में निम्नलिखित टिप्पणियाँ निहित थीं (पृष्ठ 644, कंडिका 21 पर) :

> " ... हमारा संविधान राज्य के तीन अंगों, अर्थात् कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के मध्य शक्ति के एक सूक्ष्म संतुलन पर आधारित है। *विधियों की वैधता के विषय में निर्णय करना न्यायाधीशों का कृत्य है, बल्कि उनका कर्तव्य है।* यदि न्यायालयों को उस शक्ति से पूर्णतः वंचित कर दिया जाए, तो लोगों को प्रदत्त

मूल अधिकार मात्र एक अलंकरण बनकर रह जाएंगे क्योंकि उपचारों के बिना अधिकार जल पर लिखे हुए लेख के समान हैं। तब एक नियंत्रित संविधान अनियंत्रित बन जाएगा।"

(बल दिया गया)

बहुमत के विनिर्णय ने आक्षेपित उपबंधों को असंवैधानिक अभिनिर्धारित किया। समर्थन में कारण देते हुए, चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश ने निम्नानुसार कहा :

> " .... यह न्यायालयों के लिए निर्णय करना है कि क्या निर्बंधन युक्तियुक्त हैं तथा क्या वे संबंधित विषय के हित में हैं। अन्य मूलभूत असमानताओं से पृथक, अनुच्छेद 31-सी न्यायिक समीक्षा की शक्ति को उस सीमा तक समाप्त कर देता है जो उसके उपबंधों तथा अनुच्छेद 19 के खंड (2) से (6) के उपबंधों के मध्य तुलना की आभा तक को नष्ट कर देती है। मानवीय बुद्धि, यद्यपि असीमित हो सकती है, फिर भी अब तक ऐसी कोई व्यवस्था विकसित नहीं कर सकी है जिसके द्वारा लोगों की स्वतंत्रता की रक्षा विधि के न्यायालयों के हस्तक्षेप के अतिरिक्त की जा सके।"

तथापि, यह ध्यान दिया जा सकता है कि *मिनर्वा मिल्स* में बहुमत ने यह अभिनिर्धारित नहीं किया था कि न्यायिक समीक्षा की अवधारणा, स्वयं में, संविधान की मूल संरचना का भाग है। *मिनर्वा मिल्स के वाद* में चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश के विनिर्णय को *इंदिरा गांधी के वाद* में उनके विनिर्णय के संदर्भ में देखा जाना चाहिए जहाँ उन्होंने कहा था कि मूल रूप से अधिनियमित संविधान ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों में न्यायिक समीक्षा का अपवर्जन किया था।

मिनर्वा मिल्स के वाद में अपने अल्पमत विनिर्णय में, भगवती, न्यायमूर्ति ने निम्नानुसार अभिनिर्धारित किया :

> " ... अतः संविधान ने इन विवादों के निवारण के लिए एक स्वतंत्र तंत्र का सृजन किया है और यह स्वतंत्र तंत्र न्यायपालिका है, जिसमें कार्यपालिका की कार्रवाई की वैधता तथा विधायिका द्वारा पारित विधानों की वैधता का निर्धारण करने के लिए न्यायिक समीक्षा की शक्ति निहित है। संविधान के अधीन न्यायपालिका का यह गंभीर कर्तव्य है कि वह राज्य के विभिन्न अंगों, जैसे कार्यपालिका तथा विधायिका, को संविधान द्वारा उन्हें प्रदत्त शक्ति की सीमाओं के भीतर रखे। *न्यायिक समीक्षा की यह शक्ति संविधान के अनुच्छेद 32 तथा 226 द्वारा न्यायपालिका को प्रदान की गई है ..... न्यायपालिका संविधान की निर्वचक है* और न्यायपालिका को यह सूक्ष्म कार्य सौंपा गया है कि वह यह निर्धारित करे कि शासन के प्रत्येक अंग को कौन-सी शक्ति प्रदान की गई है, क्या वह सीमित है, और यदि सीमित है, तो उसकी सीमाएँ क्या हैं तथा क्या उस अंग की कोई कार्रवाई उन सीमाओं का अतिक्रमण करती है। *संवैधानिक मूल्यों को बनाए रखना तथा संवैधानिक सीमाओं को प्रवर्तित करना न्यायपालिका का कार्य है।* यही विधि के शासन का सार है, जिसके लिए अन्य बातों के साथ-साथ यह आवश्यक है कि "शासन द्वारा शक्तियों का प्रयोग, चाहे वह विधायिका हो अथवा कार्यपालिका अथवा कोई अन्य प्राधिकारी, संविधान तथा विधि द्वारा नियंत्रित हो"। *न्यायिक समीक्षा की शक्ति हमारी संवैधानिक व्यवस्था का एक अभिन्न भाग है; न्यायिक समीक्षा की शक्ति ..... निर्विवाद रूप से ..... संविधान की मूल संरचना का भाग है। निस्संदेह, जब मैं यह कहता हूँ, तब मेरा यह अभिप्राय*

नहीं समझा जाना चाहिए कि न्यायिक समीक्षा के लिए प्रभावी वैकल्पिक संस्थागत तंत्र अथवा व्यवस्थाएँ संसद द्वारा नहीं बनाई जा सकती हैं।"

(बल दिया गया)

एम.एन. राव, न्यायमूर्ति के विनिर्णय के माध्यम से आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने इंगित किया है कि *मिनर्वा मिल्स के वाद* में भगवती, न्यायमूर्ति के अल्पमत विनिर्णय में प्रतिपादित वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के सिद्धांत का समर्थन बहुमत के विनिर्णय द्वारा नहीं किया गया था और न ही उसका उसमें कोई उल्लेख था। वास्तव में, ऐसे सिद्धांत का इस सर्वोच्च न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिर्णयों में कोई पूर्व उल्लेख नहीं मिलता है और आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की राय में, वह सही विधिक स्थिति का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। यह ध्यान देने योग्य है कि *सम्पत कुमार के वाद* में, भगवती, मुख्य न्यायाधीश तथा मिश्र, न्यायमूर्ति ने अपने पृथक विनिर्णयों में *मिनर्वा मिल्स के वाद* में भगवती, न्यायमूर्ति के अल्पमत विनिर्णय में की गई टिप्पणियों पर अवलंबन करते हुए वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के सिद्धांत की आधारशिला रखी।

हम इस स्तर पर *फर्टिलाइज़र कॉरपोरेशन कामगार यूनियन बनाम भारत संघ, (1981) 1 एस.सी.सी. 568* में दिए गए विनिर्णय का उल्लेख कर सकते हैं, जहाँ चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश ने *इंदिरा गांधी के वाद* में अपनाए गए अपने दृष्टिकोण में कुछ सीमा तक संशोधन किया प्रतीत होते हैं। उस वाद में, बहुमत की ओर से बोलते हुए, चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश ने अभिनिर्धारित किया कि "अनुच्छेद 32 द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को प्रदत्त अधिकारिता संविधान की मूल संरचना का एक महत्वपूर्ण तथा अभिन्न भाग है।" (कंडिका 11 पर)।

किहोटो होल्लोहन बनाम जाचिल्लू एवं अन्य में, पाँच-न्यायाधीशीय संवैधानिक पीठ को, अन्य बातों के साथ-साथ, संविधान की दसवीं अनुसूची के कंडिका 7 की वैधता पर विचार करना था, जो न्यायिक समीक्षा का अपवर्जन करती थी। अल्पमत की ओर से वर्मा, न्यायमूर्ति द्वारा प्रदत्त विनिर्णय ने उस उपबंध को इस आधार पर अपास्त कर दिया कि वह विधि के शासन का उल्लंघन करता है, जो संविधान की एक मूल विशेषता है तथा जिसके अनुसार विनिर्णय एक स्वतंत्र बाह्य प्राधिकारी द्वारा न्यायिक समीक्षा के अधीन होने चाहिए। (कंडिकाएँ 181-182)। यद्यपि वेंकटचलैया, न्यायमूर्ति द्वारा प्रदत्त बहुमत के विनिर्णय ने भी आक्षेपित उपबंध को अपास्त कर दिया, तथापि अपनाया गया तर्क भिन्न था। बहुमत के विनिर्णय में यह टिप्पणी निहित है कि बहुमत के न्यायाधीशों की राय में उनके लिए इस प्रश्न पर अपना मत व्यक्त करना आवश्यक नहीं था कि क्या न्यायिक समीक्षा संविधान की मूल संरचना का भाग है। (कंडिका 120)।

अब हम इस प्रतिपादन के समर्थन में कुछ अन्य प्राधिकारों का विश्लेषण कर सकते हैं कि क्रमशः संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को प्रदत्त अधिकारिता संविधान की मूल संरचना का भाग है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने, प्रारूप अनुच्छेद 25, जो संविधान के वर्तमान अनुच्छेद 32 के अनुरूप है, के महत्व पर अपने विचार व्यक्त करते हुए निम्नानुसार कहा (संविधान सभा वाद-विवाद, खंड VII, पृष्ठ 953) :

> "यदि मुझसे इस संविधान के किसी विशेष अनुच्छेद का नाम बताने के लिए कहा जाए जो *सर्वाधिक महत्वपूर्ण है* - ऐसा अनुच्छेद जिसके बिना यह संविधान निरर्थक हो जाएगा - तो मैं इस अनुच्छेद के अतिरिक्त किसी अन्य अनुच्छेद का उल्लेख नहीं

> कर सकता। *यह संविधान की आत्मा है और इसका हृदय है* तथा मुझे प्रसन्नता है कि सदन ने इसके महत्व को समझा है।"
>
> (बल दिया गया)

डॉ. अम्बेडकर के इस कथन को इस सर्वोच्च न्यायालय के अनेक विनिर्णयों में विशेष रूप से दोहराया गया है ताकि हमारी संवैधानिक व्यवस्था में अनुच्छेद 32 को प्रदत्त अद्वितीय महत्व को रेखांकित किया जा सके। [उदाहरणार्थ, *केशवानंद भारती के वाद* में खन्ना, न्यायमूर्ति (पृष्ठ 818), *मिनर्वा मिल्स* में भगवती, न्यायमूर्ति (पृष्ठ 678), *फर्टिलाइज़र कामगार* (कंडिका 11) में चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश, *सम्पत कुमार* (पृष्ठ 137) में आर. मिश्र, न्यायमूर्ति को देखें]।

1964 का विशेष संदर्भ संख्या 1 में, इस प्रश्न पर विचार करते हुए, गजेन्द्रगडकर, मुख्य न्यायाधीश ने निम्नानुसार कहा (उपर्युक्त, पृष्ठ 493-494 पर) :

> "*यदि अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की शक्ति तथा अनुच्छेद 32 के अधीन* इस न्यायालय की प्राधिकारिता किसी अपवाद के अधीन नहीं हैं, तो यह तर्क देना निरर्थक होगा कि कोई नागरिक उन मामलों में भी उच्च न्यायालयों अथवा इस न्यायालय के समक्ष उनकी अधिकारिता का आह्वान करने के लिए नहीं आ सकता जहाँ उसके मूल अधिकारों का उल्लंघन किया गया है। *उस संबंध में न्यायिक शक्ति का अस्तित्व अनिवार्यतः तथा अवश्यंभावी रूप से नागरिक के उस अधिकार की परिकल्पना करता है कि वह उस संबंध में न्यायालय का दरवाज़ा खटखटा सके;* अन्यथा उच्च न्यायालयों तथा इस न्यायालय को प्रदत्त शक्ति वस्तुतः निरर्थक हो जाएगी। यह नहीं भूलना चाहिए कि उच्च न्यायालयों तथा इस न्यायालय को प्रदत्त

न्यायिक शक्ति नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए अभिप्रेत है और इसलिए उक्त न्यायिक शक्ति के अस्तित्व में ही आवश्यक रूप से नागरिक का यह अधिकार निहित है कि वह उपयुक्त मामले में उस शक्ति का आह्वान कर सके।"

(बल दिया गया)

संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय में निहित न्यायिक समीक्षा की शक्ति संविधान की मूल संरचना का भाग है या नहीं, इस प्रश्न पर अपना मत व्यक्त करने के लिए, हमें पहले यह समझने का प्रयास करना होगा कि संविधान की मूल संरचना का गठन किन तत्वों से होता है। मूल संरचना का सिद्धांत *केशवानंद भारती के वाद* में विकसित किया गया था। तथापि, जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, उस वाद में यह अभिनिर्धारित नहीं किया गया था कि केवल उसी विनिर्णय में उल्लिखित विशिष्ट तथा विशेष लक्षण ही हमारे संविधान की मूल संरचना का गठन करेंगे। वास्तव में, शेलट एवं ग्रोवर, न्यायमूर्तिगण, हेगड़े एवं मुखर्जी, न्यायमूर्तिगण तथा जगन्मोहन रेड्डी, न्यायमूर्ति के विनिर्णयों में इस आशय की विशिष्ट टिप्पणियाँ हैं कि संविधान की मूल संरचना का गठन करने वाली आवश्यक विशेषताओं की उनकी सूची दृष्टांतात्मक है तथा उसे पूर्ण नहीं माना जाना चाहिए। *इंदिरा गांधी के वाद* में, चन्द्रचूड़, न्यायमूर्ति ने अभिनिर्धारित किया कि जब किसी न्यायमूर्ति के समक्ष यह प्रश्न आता है कि संविधान का कोई विशेष पहलू मूल संरचना का भाग है अथवा नहीं, तब उचित दृष्टिकोण यह है कि प्रत्येक पृथक वाद में उस विशेषता के हमारे संविधान की योजना में स्थान, उसके उद्देश्य तथा प्रयोजन, और देश के शासन के लिए एक मूल साधन के रूप में हमारे संविधान

की अखंडता पर उसके निषेध के परिणामों का परीक्षण किया जाए। (उपर्युक्त, पृष्ठ 751-752 पर)। इस दृष्टिकोण को *मिनर्वा मिल्स के वाद* में भगवती, न्यायमूर्ति द्वारा विशेष रूप से अपनाया गया था (उपर्युक्त, पृष्ठ 671-672 पर) और इसे संवैधानिक विधि के इस क्षेत्र में निर्णायक कसौटी माना जाता है।

हम पाते हैं कि चन्द्रचूड़, न्यायमूर्ति द्वारा विकसित कसौटी में उल्लिखित विभिन्न कारकों पर इस सर्वोच्च न्यायालय की विभिन्न पीठों के उन विनिर्णयों में पहले ही विचार किया जा चुका है जिनका हमारे विश्लेषण के दौरान उल्लेख किया गया है। उनके निष्कर्षों से, जिनमें से अनेक को हमने पूर्ण रूप से उद्धृत किया है, यह प्रतीत होता है कि इस सर्वोच्च न्यायालय ने सदैव यह माना है कि क्रमशः अनुच्छेद 226 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा इस सर्वोच्च न्यायालय में निहित न्यायिक समीक्षा की शक्ति, जिसके द्वारा विधायी कार्रवाई को उच्चतर न्यायालयों की जांच के अधीन किया जा सकता है, हमारी संवैधानिक व्यवस्था का अभिन्न अंग है। यद्यपि अनेक विनिर्णयों में इस पहलू का विशिष्ट रूप से उल्लेख किया गया है [*विशेष संदर्भ के वाद* में गजेन्द्रगडकर, मुख्य न्यायाधीश, *केशवानंद भारती के वाद* में बेग, न्यायमूर्ति तथा खन्ना, न्यायमूर्ति, *मिनर्वा मिल्स* में चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश तथा भगवती, न्यायमूर्ति, *फर्टिलाइज़र कामगार* में चन्द्रचूड़, मुख्य न्यायाधीश, *दिल्ली न्यायिक सेवा संघ* में के.एन. सिंह, न्यायमूर्ति, आदि], शेष विनिर्णयों में इस विशेषता के महत्व को रेखांकित करने वाली सामान्य टिप्पणियाँ की गई हैं।

संवैधानिक लोकतंत्रों के भीतर न्यायालयों की विधायी कार्रवाई की समीक्षा करने की शक्ति की वैधता पर उस समय से प्रश्न उठाए जाते रहे हैं जब इस शक्ति की पहली बार परिकल्पना की गई थी। भारत का संविधान, ऐसी आलोचना के प्रति सजग रहते हुए, उच्चतर

न्यायपालिका को ऐसी शक्ति प्रदान करते समय, महत्वपूर्ण संरक्षणों को समाविष्ट करता है। जिस प्रकार हमारे संविधान-निर्माताओं ने न्यायपालिका से संबंधित उपबंधों को समाविष्ट किया, उसके विश्लेषण से यह संकेत मिलता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के प्रति वे अत्यधिक चिंतित थे। (#[2]) ये प्रयास यह सुनिश्चित करने के उद्देश्य से किए गए थे कि न्यायपालिका अपनी व्यापक न्यायिक समीक्षा की शक्तियों का प्रभावी रूप से निर्वहन करने में सक्षम हो। जबकि संविधान उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को विधियों को अपास्त करने की शक्ति प्रदान करता है, वहीं इसमें न्यायाधीशों के कार्यकाल, वेतन, भत्तों, सेवानिवृत्ति की आयु तथा उच्चतर न्यायालयों में न्यायाधीशों के चयन की प्रक्रिया से संबंधित विस्तृत उपबंध भी समाविष्ट हैं। ऐसे विस्तृत उपबंधों का समावेश इस विश्वास के कारण किया गया प्रतीत होता है कि इन उपबंधों से सुसज्जित होकर, उच्चतर न्यायालय अपने विनिर्णयों के निर्माण में हस्तक्षेप करने के किसी भी कार्यपालिकीय अथवा विधायी प्रयास से पृथक रहेंगे। उच्चतर न्यायालयों के न्यायाधीशों को संविधान को बनाए रखने का कार्य सौंपा गया है और इस उद्देश्य से उन्हें उसकी व्याख्या करने की शक्ति प्रदान की गई है। वही यह सुनिश्चित करने के लिए उत्तरदायी हैं कि संविधान द्वारा परिकल्पित शक्तियों का संतुलन बनाए रखा जाए और विधायिका तथा कार्यपालिका अपने कृत्यों के निर्वहन में संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण न करें। यह भी उनका कर्तव्य है कि वे यह पर्यवेक्षण करें कि अधीनस्थ न्यायालयों तथा अधिकरणों में कार्यरत व्यक्तियों द्वारा दिए गए न्यायिक विनिर्णय विधिक शुद्धता तथा न्यायिक स्वतंत्रता के कठोर मानकों का उल्लंघन न करें। उच्चतर न्यायपालिका के न्यायाधीशों की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने वाले संवैधानिक संरक्षण, अधीनस्थ न्यायपालिका

2 ग्रैनविल ऑस्टिन, *द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन : कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1972 में अध्याय VII, "द जुडिशियरी एंड द सोशल रिवोल्यूशन" देखें; इस अध्याय में संविधान सभा में प्रासंगिक प्रारूपण कार्यों तथा वाद-विवादों के विस्तृत संदर्भ सम्मिलित हैं।

के न्यायाधीशों अथवा साधारण विधानों द्वारा सृजित अधिकरणों में कार्यरत व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हैं। परिणामस्वरूप, उत्तरवर्ती श्रेणी के न्यायाधीशों को संवैधानिक व्याख्या के कार्य के निर्वहन में उच्चतर न्यायपालिका के पूर्ण तथा प्रभावी प्रतिस्थापन के रूप में कभी नहीं माना जा सकता। अतः हम अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों में तथा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय में निहित विधायी कार्रवाई पर न्यायिक समीक्षा की शक्ति, संविधान की एक अभिन्न तथा आवश्यक विशेषता है, जो उसकी मूल संरचना का भाग है। इसलिए, सामान्यतः, विधानों की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने की उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति का कभी भी अपवर्जन अथवा बहिष्करण नहीं किया जा सकता।

हम यह भी अभिनिर्धारित करते हैं कि अपने-अपने क्षेत्राधिकारों के भीतर स्थित सभी न्यायालयों तथा अधिकरणों के विनिर्णयों पर न्यायिक अधीक्षण का प्रयोग करने के लिए उच्च न्यायालयों में निहित शक्ति भी संविधान की मूल संरचना का भाग है। इसका कारण यह है कि ऐसी स्थिति, जिसमें उच्च न्यायालयों को संवैधानिक व्याख्या के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायिक कृत्यों से वंचित कर दिया जाए, समान रूप से परिहार्य है।

तथापि, यह बलपूर्वक रेखांकित किया जाना महत्वपूर्ण है कि यद्यपि अधीनस्थ न्यायपालिका अथवा साधारण विधानों द्वारा सृजित अधिकरण, उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के अपवर्जन के रूप में विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकते, तथापि इस संबंध में उनके द्वारा प्रतिस्थापनात्मक भूमिका के विपरीत एक

अनुपूरक भूमिका का निर्वहन करने के विरुद्ध कोई संवैधानिक निषेध नहीं है। ऐसी स्थिति का संवैधानिक योजना के भीतर परिकल्पित होना तब स्पष्ट हो जाता है जब संविधान के अनुच्छेद 32 के खंड (3) का विश्लेषण किया जाता है, जो निम्नानुसार है :

> *"32. इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपचार*--(1)
>
> ... ...
>
> (2) ... ...
>
> (3) खंड (1) तथा (2) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को प्रदत्त शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, *संसद विधि द्वारा किसी अन्य न्यायालय को उसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर खंड (2) के अधीन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रयोग की जा सकने वाली सभी अथवा किसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए सशक्त कर सकती है।"*

(बल दिया गया)

यदि संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन शक्ति, जिसे संविधान का "हृदय" तथा "आत्मा" कहा गया है, अतिरिक्त रूप से "किसी अन्य न्यायालय" को प्रदान की जा सकती है, तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों को प्रदत्त अधिकारिता के संबंध में वही स्थिति विद्यमान न रह सके। जब तक संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता तथा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता सुरक्षित रहती है, तब तक ऐसा कोई कारण नहीं है कि संविधान के उपबंधों की कसौटी पर विधानों की वैधता की परीक्षा करने की

शक्ति अधिनियम के अधीन सृजित प्रशासनिक अधिकरणों अथवा संविधान के अनुच्छेद 323 बी के अधीन सृजित अधिकरणों को प्रदान न की जा सके। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि अनुच्छेद 323 ए तथा 323 बी से प्रवाहित प्राधिकार के अतिरिक्त, संसद तथा राज्य विधायिकाएँ दोनों ही सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की मूल अधिकारिता में परिवर्तन करने के लिए विधायी क्षमता रखती हैं। यह शक्ति संसद को सूची I की प्रविष्टि 77, 78, 79 तथा 95 के अधीन उपलब्ध है तथा राज्य विधायिकाओं को सूची II की प्रविष्टि 65 के अधीन उपलब्ध है; इस प्रयोजन के लिए संसद तथा राज्य विधायिकाएँ दोनों सूची III की प्रविष्टि 46 का भी आश्रय ले सकती हैं।

इन अधिकरणों को ऐसी शक्ति प्रदान किए जाने को बनाए रखने के लिए हमारे पास अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण हैं। जब हमारे संविधान-निर्माताओं ने उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्तियाँ प्रदान कीं, तब उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया कि अन्य संवैधानिक संरक्षणों का सृजन किया जाए जिससे वे इस दुष्कर दायित्व का प्रभावी रूप से निर्वहन कर सकें। अपेक्षा यह थी कि इस शक्ति का प्रयोग केवल कभी-कभार ही आवश्यक होगा। तथापि, स्वतंत्रता के पश्चात् व्यतीत हुए पाँच दशकों में, उच्च न्यायालयों के समक्ष वाद-विवाद की मात्रा अभूतपूर्व रूप से बढ़ गई है। *सम्पत कुमार के वाद* में विनिर्णय ऐसी ही पृष्ठभूमि में दिया गया था। हम इस तथ्य के प्रति सचेत हैं कि जब इस सर्वोच्च न्यायालय की एक संवैधानिक पीठ ने *सम्पत कुमार के वाद* में वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के सिद्धांत को अपनाया था, तब वह एक चिंताजनक व्यावहारिक स्थिति का समाधान करने का प्रयास कर रही थी और उसके द्वारा चुना गया दृष्टिकोण उस समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता था। लगभग एक

दशक पश्चात्, अब हम उस दृष्टिकोण को अपनाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक परिणामों की समीक्षा करने की स्थिति में हैं।

इस स्तर पर हमें उस तथ्यात्मक स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जिसके कारण *सम्पत कुमार के वाद* में वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के सिद्धांत को अपनाया गया था। अपने प्रमुख विनिर्णय में, आर. मिश्र, न्यायमूर्ति ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि स्वतंत्रता के पश्चात् जनसंख्या-विस्फोट तथा वाद-विवादों में वृद्धि ने उच्च न्यायालयों में लंबित मामलों के भार को अत्यधिक बढ़ा दिया था। उच्च न्यायालयों के बढ़े हुए भार को कम करने के उद्देश्य से किए गए अध्ययनों का उल्लेख किया गया था। इस संबंध में, स्वतंत्र अधिकरणों की स्थापना के लिए शाह समिति की संस्तुतियों तथा प्रशासनिक सुधार आयोग के उस सुझाव का भी उल्लेख किया गया था कि सिविल सेवा अधिकरणों की स्थापना की जाए। *के.के. दत्ता बनाम भारत संघ, (1980) 4 एस.सी.सी. 38* के विनिर्णय का भी उल्लेख किया गया था, जिसमें इस सर्वोच्च न्यायालय ने, सेवा-विवादों के शीघ्र निपटारे की आवश्यकता पर बल देते हुए, सेवा अधिकरणों की स्थापना का प्रस्ताव किया था।

उच्च न्यायालयों के लंबित मामलों के भार को समाप्त करने की समस्या, जो वर्तमान समय में अत्यधिक विशाल रूप धारण कर चुकी है, तथापि ऐसी समस्या है जो लगभग आधी शताब्दी से अध्ययन का विषय रही है। समय-समय पर अनेक विशेषज्ञ समितियों तथा आयोगों ने इसमें निहित जटिलताओं का विश्लेषण किया है तथा सुझाव दिए हैं, जिनमें से सभी एक-दूसरे के अनुरूप नहीं रहे हैं। इस संबंध में किए गए अनेक अध्ययनों में से, बारह अध्ययन भारत के विधि आयोग (जिसे आगे "एल.सी.आई." कहा गया है) अथवा केन्द्रीय

सरकार द्वारा नियुक्त समान स्तर की उच्चस्तरीय समितियों द्वारा किए गए हैं, और वे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। (***)

उच्च न्यायालयों के समक्ष उपस्थित इस विकट कार्य का आकलन, *सम्पत कुमार के वाद* में विनिर्णय के कुछ समय पश्चात् प्रकाशित एल.सी.आई. की 124 वीं प्रतिवेदन में किए गए मूल्यांकन का संदर्भ लेकर किया जा सकता है। यह प्रतिवेदन 1988 में प्रस्तुत की गई थी, अर्थात् आज से नौ वर्ष पूर्व, और तब से कुछ परिवर्तन हुए हैं, किन्तु जो व्यापक परिप्रेक्ष्य उभरकर आता है, वह आज भी, बड़े पैमाने पर, सत्य है :

> " ... उच्च न्यायालय दीवानी तथा आपराधिक, साधारण तथा असाधारण, और सामान्य तथा विशेष अधिकारिता का उपभोग करते हैं। अधिकारिता का स्रोत संविधान तथा विभिन्न विधियाँ, साथ ही लेटर्स पेटेंट तथा उच्च न्यायालयों का गठन करने वाले अन्य लिखत हैं। देश के उच्च न्यायालय वसीयती, वैवाहिक तथा संरक्षकता संबंधी विषयों के संबंध में मूल अधिकारिता का उपभोग करते हैं। जन प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, कंपनी अधिनियम, 1956 तथा अनेक अन्य विशेष विधियों के अधीन उच्च न्यायालयों को मूल अधिकारिता प्रदान की गई है। अभिलेख न्यायालय होने के कारण, उच्च न्यायालयों को अपने अवमान तथा अपने अधीनस्थ न्यायालयों के अवमान के लिए दंडित करने की शक्ति प्राप्त है। उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन असाधारण अधिकारिता का उपभोग करते हैं, जो उन्हें *बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा तथा उत्प्रेषण* की प्रकृति

वाले विशेषाधिकार रिट जारी करने में सक्षम बनाती है। इसके अतिरिक्त, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर तथा मद्रास के उच्च न्यायालय साधारण मूल दीवानी अधिकारिता का भी प्रयोग करते हैं। उच्च न्यायालय परामर्शी अधिकारिता का भी उपभोग करते हैं, जैसा कि भारतीय कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 256, धन-कर अधिनियम, 1957 की धारा 27, उपहार-कर अधिनियम, 1958 की धारा 26 तथा कंपनी (लाभ) अधिभार अधिनियम, 1964 की धारा 18 से स्पष्ट है। इसी प्रकार, उच्च न्यायालयों को परामर्शी अधिकारिता प्रदान करने वाले समानांतर उपबंध भी हैं, जैसे सीमा शुल्क अधिनियम, 1962 की धारा 130 तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क एवं नमक अधिनियम, 1944 की धारा 354। उच्च न्यायालयों ने भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 तथा पारसी विवाह और विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1936 के अधीन भी अधिकारिता का उपभोग किया है। अपनी व्यापक अधिकारिता के प्रयोग में उच्च न्यायालय के समक्ष आने वाले विभिन्न प्रकार के वाद-विवाद विभिन्न नामों से जाने जाते हैं। अधिकारिता के विशाल क्षेत्र का आकलन उन नामों के संदर्भ से किया जा सकता है, अर्थात्, (ए) प्रथम अपीलें; (बी) लेटर्स पेटेंट के अधीन अपीलें; (सी) द्वितीय अपीलें; (डी) पुनरीक्षण याचिकाएँ; (ई) आपराधिक अपीलें; (एफ) आपराधिक पुनरीक्षण; (जी) दीवानी तथा आपराधिक संदर्भ; (एच) रिट याचिकाएँ; (आई) रिट अपीलें; (जे) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर विधियों के अधीन संदर्भ; (के) विक्रय-कर अधिनियम के अधीन उत्पन्न विषय; (एल) जन प्रतिनिधित्व अधिनियम के अधीन निर्वाचन याचिकाएँ; (एम) कंपनी अधिनियम, बैंकिंग कंपनी अधिनियम तथा अन्य विशेष अधिनियमों के अधीन याचिकाएँ; तथा (एन) जहाँ कहीं उच्च

न्यायालय को मूल अधिकारिता प्राप्त है, उस अधिकारिता के प्रयोग में वाद तथा अन्य कार्यवाहियाँ। अधिकारिता की इस विविधता ने कुछ सीमा तक उच्च न्यायालयों में विषयों के अत्यधिक संस्थापन के लिए उत्तरदायित्व वहन किया है।"

उच्च न्यायालयों में विद्यमान स्थिति का विस्तार से विश्लेषण करने के पश्चात्, एल.सी.आई. ने विशेषज्ञ अधिकरणों की स्थापना के संबंध में विशिष्ट संस्तुतियाँ कीं, जिससे *सम्पत कुमार के वाद* में अपनाए गए दृष्टिकोण को बल प्राप्त हुआ। एल.सी.आई. ने उस समय की अंतर्राष्ट्रीय न्यायिक प्रवृत्ति का उल्लेख किया, जो यह इंगित करती थी कि सामान्य अधिकारिता वाले न्यायालय विशेषज्ञ अधिकरणों के लिए अपना स्थान छोड़ रहे थे। उच्च न्यायालयों में लंबित मामलों की स्थिति को "विनाशकारी, संकटग्रस्त, लगभग अप्रबंधनीय, व्यवस्था पर ... अपरिमेय भार आरोपित करने वाली" बताते हुए, एल.सी.आई. ने कहा कि भारतीय न्यायशास्त्र में प्रचलित यह दृष्टिकोण कि उच्च न्यायालय द्वारा उपभोग की जाने वाली अधिकारिता एक पवित्र गौ है, पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। अतः उसने विशेषज्ञ न्यायालयों/अधिकरणों की स्थापना द्वारा उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को सीमित करने तथा साथ ही साथ उच्च न्यायालयों की अधिकारिता का उन्मूलन करने की संस्तुति की।

यह समझना महत्वपूर्ण है कि यद्यपि वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों का सिद्धांत *सम्पत कुमार के वाद* में प्रशासनिक अधिकरणों के संबंध में प्रतिपादित किया गया था, तथापि यह अवधारणा स्वयं - अर्थात् विवाद-निपटान के ऐसे वैकल्पिक माध्यमों का सृजन, जो उच्च न्यायालयों का भार कम करें तथा साथ ही विशिष्ट न्याय प्रदान करें - नई नहीं है। वास्तव में, एक विशिष्ट कर न्यायालय की स्थापना का प्रश्न कई दशकों से विचाराधीन रहा है; यद्यपि उच्च न्यायालय लंबितता समिति (1972) की प्रतिवेदन ने इसे "दोषपूर्ण रूप से परिकल्पित"

कहकर अस्वीकार कर दिया था, तथापि एल.सी.आई. ने अपनी 115 वीं प्रतिवेदन (1986) में पृथक केन्द्रीय कर न्यायालयों की स्थापना की संस्तुति को पुनर्जीवित किया। इसी प्रकार, एल.सी.आई. की अन्य प्रतिवेदनों ने 'ग्राम न्यायालयों' [एल.सी.आई., 114 वीं प्रतिवेदन (1986)], औद्योगिक/श्रम अधिकरणों [एल.सी.आई., 122 वीं प्रतिवेदन (1987)] तथा शिक्षा अधिकरणों [एल.सी.आई., 123 वीं प्रतिवेदन (1987)] की स्थापना का सुझाव दिया है।

आर.के. जैन के वाद में, इस सर्वोच्च न्यायालय ने यह समझने के लिए कि वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों का सिद्धांत व्यवहार में किस प्रकार कार्य कर रहा था, यह संस्तुति की थी कि एल.सी.आई. अथवा कोई समान विशेषज्ञ निकाय इन अधिकरणों के कार्यकरण का सर्वेक्षण करे। यह आशा की गई थी कि पाँच वर्षों से अधिक की पर्याप्त अवधि तक अधिकरणों के कार्यकरण का मूल्यांकन करने के पश्चात् किया गया ऐसा अध्ययन, इस सिद्धांत के आलोचकों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर प्रदान करेगा। दुर्भाग्यवश, हमें ऐसे किसी अध्ययन का लाभ उपलब्ध नहीं है। तथापि, हम लंबितता समिति (1989-90) की प्रतिवेदन, जिसे लोकप्रिय रूप से मालीमथ समिति प्रतिवेदन कहा जाता है, का उल्लेख कर सकते हैं, जिसने इस पहलू पर विस्तार से विचार किया है। प्रतिवेदन में निहित टिप्पणियाँ, जहाँ तक वे अधिकरणों की स्थापना के पश्चात् लगभग तीन वर्षों की अवधि में उनके कार्यकरण की समीक्षा समाहित करती हैं, हमारे प्रयोजन के लिए उपयोगी होंगी। प्रतिवेदन के द्वितीय खंड का अध्याय VIII, "विवाद-निपटान के वैकल्पिक माध्यम और मंच", इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करता है। 'ग्राम न्यायालयों', औद्योगिक अधिकरणों तथा शिक्षा अधिकरणों की स्थापना की व्यवहार्यता के संबंध में अपनी विशिष्ट संस्तुतियाँ अग्रेषित करने के पश्चात्, समिति ने संविधान के अनुच्छेद 323 ए तथा 323 बी के अधीन स्थापित अधिकरणों के प्रश्न पर विचार किया है। इस

संबंध में की गई प्रासंगिक टिप्पणियाँ, हमारे विश्लेषण के लिए पर्याप्त महत्व की होने के कारण, पूर्णतः निम्नानुसार उद्धृत की जाती हैं :

"अधिकरणों का कार्यकरण

8.63 देश में अनेक अधिकरण कार्यरत हैं। *तथापि, उन सभी ने जनमानस में विश्वास उत्पन्न नहीं किया है। इसके कारण खोजने में कठिन नहीं हैं। सर्वप्रथम कारण क्षमता, वस्तुनिष्ठता तथा न्यायिक दृष्टिकोण का अभाव है। अगला कारण उनका गठन, उनमें कार्मिकों की नियुक्ति की शक्ति तथा पद्धति, उनका निम्नतर स्तर तथा कार्य करने की अनौपचारिक पद्धति है। अंतिम कारण उनकी वास्तविक संरचना है; कार्यकाल की अनिश्चितता, सेवा की असंतोषजनक शर्तों, प्रशासनिक विषयों में कार्यपालिकीय अधीनता तथा न्यायिक कार्यकरण में राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण उच्च क्षमता वाले व्यक्ति पीठासीन पदाधिकारियों के रूप में नियुक्त होना नहीं चाहते। इन तथा अन्य कारणों से यह कहा जाता है कि न्याय की गुणवत्ता प्रभावित हुई है तथा ऐसे अधिकरणों की स्थापना द्वारा शीघ्रता के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई है।*

8.64 प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 के अधीन प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना का प्रयोग भी व्यापक रूप से स्वागत योग्य नहीं माना गया है। इसके सदस्यों का चयन भारतीय पुलिस सेवा सहित सभी प्रकार की सेवाओं से किया गया है। राज्य प्रशासनिक अधिकरणों के विनिर्णय संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन के अतिरिक्त अपीलयोग्य नहीं हैं। अत्यधिक व्यय तथा मंच की दूरस्थता के कारण, अपील के अधिकार का वस्तुतः निषेध हो जाता है। इससे अनेक मामलों में न्याय से

वंचना तथा परिणामस्वरूप असंतोष उत्पन्न हुआ है। कुछ राज्यों में, जहाँ उनकी स्थापना की गई है, उनके उन्मूलन के लिए एक प्रयास होता हुआ प्रतीत होता है।

अधिकरण - उच्च न्यायालय की अधिकारिता को सम्मिलित करने के लिए कसौटी"

8.65 ऐसा अधिकरण, जो न्यायिक समीक्षा के लिए एक वैकल्पिक संस्थागत तंत्र के रूप में उच्च न्यायालय का प्रतिस्थापन करता है, उच्च न्यायालय से किसी भी प्रकार कम प्रभावकारी नहीं होना चाहिए। *ऐसा अधिकरण विश्वास तथा जन-प्रतिष्ठा उत्पन्न करने वाला होना चाहिए कि वह न्यायिक दृष्टिकोण तथा वस्तुनिष्ठता से युक्त एक अत्यधिक सक्षम तथा विशेषज्ञ तंत्र है। ऐसे अधिकरण में, जिसका उद्देश्य उच्च न्यायालय का स्थान लेना है, विधिक प्रशिक्षण तथा अनुभव, और न्यायिक प्रज्ञा, दक्षता तथा दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।* जब ऐसा अधिकरण न्यायपालिका से तथा सेवाओं से अथवा क्षेत्र के विशेषज्ञों में से लिए गए कार्मिकों से गठित किया जाता है, तब सेवा सदस्यों अथवा विशेषज्ञ सदस्यों के पक्ष में कोई भी अधिभार तथा न्यायिक सदस्यों के मूल्य को कम करके आंकना, अधिकरण को उच्च न्यायालय की अपेक्षा कम प्रभावकारी तथा कम सक्षम बना देगा। ऐसी परिस्थितियों में ऐसे अधिकरण की स्थापना करने वाला अधिनियम स्वयं शून्य घोषित किया जाना होगा। ऐसी स्थिति न्यायिक स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं होगी और यहाँ तक कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनके निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करने की प्रवृत्ति भी रख सकती है, विशेष रूप से तब जब ऐसे अधिकरण के समक्ष आने वाले अधिकांश मामलों में सरकार स्वयं एक वादकारी होती है। (*एस.पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ,* [1987] 1 एस.सी.आर. 435 में प्रतिवेदित, देखें।) विशेषज्ञ अधिकरणों के

समर्थकों को, जो उनकी स्थापना के साथ-साथ उन विषयों के संबंध में उच्च न्यायालयों की रिट अधिकारिता के अपवर्जन की भी इच्छा रखते हैं जो ऐसे अधिकरणों को न्यायनिर्णयन हेतु सौंपे गए हैं, इन अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा जीवन्त पहलुओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। *यह नहीं भूलना चाहिए कि जिसका किसी अन्य समान रूप से प्रभावकारी तथा सक्षम संस्थागत तंत्र द्वारा प्रतिस्थापन किया जा सकता है, वह उच्च न्यायालय हैं, स्वयं न्यायिक समीक्षा नहीं*। अधिकरण अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं हैं, बल्कि एक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन हैं; यदि शीघ्र न्याय, दृष्टिकोण की एकरूपता, विनिर्णयों की पूर्वानुमेयता तथा विशेषज्ञ न्याय के प्रशंसनीय उद्देश्यों को प्राप्त भी किया जाना है, तब भी उन्हें प्राप्त करने के लिए स्थापित किए जाने वाले अधिकरण की रूपरेखा को अपना मूल न्यायिक चरित्र बनाए रखना चाहिए तथा जन-विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। न्याय के प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की कोई भी योजना, जो उच्च न्यायालयों के प्रतिस्थापन में एक वैकल्पिक संस्थागत तंत्र का प्रावधान करती है, संवैधानिक रूप से वैध होने के लिए उपर्युक्त कसौटी पर खरी उतरनी चाहिए।

8.66 हमारे देश में न्याय के अधिकरणीकरण का समग्र चित्र संतोषजनक तथा उत्साहवर्धक नहीं है। नए क्षेत्रों अथवा विषयों तक इस प्रयोग का विस्तार किए जाने से पूर्व, *विशेष रूप से यदि उच्च न्यायालयों की संवैधानिक अधिकारिता का साथ-साथ अपवर्जन भी किया जाना है, तो एक नए दृष्टिकोण, पुनर्विलोकन तथा गंभीर विचार की आवश्यकता है*। उपर्युक्त कसौटियों को संतुष्ट करने वाले बहुत अधिक अधिकरणों की स्थापना सम्भवतः नहीं की जा सकती।

(बल दिया गया)

इस प्रकार अपने विचार व्यक्त करने के पश्चात्, मालीमथ समिति प्रतिवेदन ने विशेष रूप से यह संस्तुति की कि वैकल्पिक संस्थागत तंत्रों के सिद्धांत का परित्याग कर दिया जाए। इसके स्थान पर, उसने यह संस्तुति की कि उच्च न्यायालयों के भीतर संस्थागत परिवर्तन किए जाएँ, उन्हें विधि की विभिन्न शाखाओं के लिए पृथक खंडों में विभाजित किया जाए, जैसा कि इंग्लैंड में किया जा रहा है। उसने कहा कि विद्यमान आधारभूत संरचना का उपयोग करते हुए पृथक खंडों में कार्य करने के लिए अधिक न्यायमूर्तियों की नियुक्ति करना, उच्च न्यायालयों में लंबितता की समस्या के समाधान का एक बेहतर उपाय होगा।

मालीमथ समिति प्रतिवेदन प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् व्यतीत हुए वर्षों में, उच्च न्यायालयों में लंबितता में पर्याप्त वृद्धि हुई है और हमारा मत है कि उसकी संस्तुति वर्तमान परिप्रेक्ष्य के अनुकूल नहीं है। यह कि विभिन्न अधिकरण अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य नहीं कर सके हैं, एक स्वयंसिद्ध तथा व्यापक रूप से स्वीकृत सत्य है। तथापि, यह निष्कर्ष निकालना कि उनका असंतोषजनक कार्यनिष्पादन इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि उनकी स्थापना किसी मूलतः असुदृढ़ सिद्धांत पर आधारित थी, सही नहीं होगा। जिन कारणों से अधिकरणों का गठन किया गया था, वे आज भी विद्यमान हैं; वास्तव में, वे कारण वर्तमान समय में और भी अधिक प्रबल हो गए हैं। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि हमारी संवैधानिक योजना ऐसे अधिकरणों की स्थापना की अनुमति देती है। तथापि, उनके मानकों को उन्नत

करने के लिए कठोर उपायों का आश्रय लेना पड़ सकता है ताकि उन्हें प्रदत्त न्यायिक समीक्षा की शक्ति के निर्वहन में वे संवैधानिक परीक्षण की कसौटी पर खरे उतर सकें।

हम पहले उच्च न्यायालयों की न्यायिक समीक्षा की शक्ति के अपवर्जन के प्रश्न पर विचार करेंगे। हम पहले ही अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि न्यायिक समीक्षा की शक्ति के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को पूर्णतः अपवर्जित नहीं किया जा सकता। हमारे समक्ष यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि अधिकरणों को उन विषयों का न्यायनिर्णयन करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए जिनमें विधानों की विधिमान्यता को चुनौती दी गई हो, और उन्हें स्वयं को केवल उन विषयों तक सीमित रखना चाहिए जिनमें संवैधानिक प्रश्न न उठाए गए हों। हम इस प्रतिपादन से सहमत होने के लिए स्वयं को प्रेरित नहीं कर सकते, क्योंकि इससे कार्यवाहियों का विभाजन हो सकता है तथा परिहार्य विलंब उत्पन्न हो सकता है। यदि ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाए, तो वादकारियों के लिए संवैधानिक प्रश्न उठाकर, जिनमें से अनेक पूर्णतः तुच्छ हो सकते हैं, प्रत्यक्ष रूप से उच्च न्यायालयों का आश्रय लेना तथा इस प्रकार अधिकरणों की अधिकारिता को निष्प्रभावी करना संभव हो जाएगा। इसके अतिरिक्त, विधि की इन विशेष शाखाओं में भी कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें नियमित रूप से संवैधानिक प्रश्नों पर विचार करना पड़ता है; उदाहरणार्थ, सेवा विधि के विषयों में अधिकांश मामलों में संविधान के अनुच्छेद 14, 15 तथा 16 की व्याख्या सम्मिलित होती है। यह अभिनिर्धारित करना कि अधिकरणों को संवैधानिक प्रश्नों से संबंधित विषयों का निपटारा करने की कोई शक्ति नहीं है, उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करेगा जिसके लिए उनका गठन किया गया था। दूसरी ओर, यह अभिनिर्धारित करना कि ऐसे सभी विनिर्णय संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उस उच्च न्यायालय की खंड पीठ की

अधिकारिता के अधीन होंगे, जिसके प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में संबंधित अधिकरण स्थित है, दो उद्देश्यों की पूर्ति करेगा। संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों में निहित विधायी कार्रवाई की न्यायिक समीक्षा की शक्ति को सुरक्षित रखते हुए, यह सुनिश्चित करेगा कि तुच्छ दावे अधिकरण में न्यायनिर्णयन की प्रक्रिया के माध्यम से छन जाएँ। उच्च न्यायालय को गुण-दोष के आधार पर दिए गए कारणयुक्त विनिर्णय का लाभ भी प्राप्त होगा, जो विषय के अंतिम निर्णय में उसके लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

हमारे समक्ष यह भी तर्क दिया गया है कि उन मामलों के निपटारे में भी, जो विधिवत् अधिकरणों के समक्ष हैं, उनके द्वारा न्याय प्रदान किए जाने की पद्धति में बहुत कुछ अपेक्षित रह जाता है। इसके अतिरिक्त, मूल अधिनियमों में संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष अनुमति द्वारा अपील के रूप में जो उपचार प्रदान किया गया है, वह इतना महँगा तथा दुर्गम है कि उसे वास्तविक तथा प्रभावी नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, ऐसे उपचार का परिणाम यह होता है कि सर्वोच्च न्यायालय की सूची उन अधिकरणों के विनिर्णयों से भर जाती है जिन्हें अपेक्षाकृत तुच्छ आधारों पर चुनौती दी जाती है और उसे प्रथम अपीलीय न्यायालय की भूमिका निभाने के लिए विवश होना पड़ता है। हम पहले ही इस आवश्यकता पर बल दे चुके हैं कि उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन अधिकरणों के विनिर्णयों पर न्यायिक अधीक्षण का प्रयोग करने में सक्षम रहें। *आर.के. जैन के वाद* में, इन तथ्यों का संज्ञान लेने के पश्चात् यह सुझाव दिया गया था कि विधि के प्रश्नों पर अधिकरणों से उस उच्च न्यायालय की खंड पीठ के समक्ष अपील की संभावना पर विचार किया जाए, जिसके प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में संबंधित अधिकरण स्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सुझाव के अनुसरण में कोई अनुवर्ती कार्रवाई नहीं की गई है। ऐसा उपाय स्थिति में

पर्याप्त सुधार ला सकता था। उपर्युक्त दोनों तर्कों को दृष्टिगत रखते हुए, हम अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 323ए अथवा अनुच्छेद 323बी के अनुसरण में सृजित सभी अधिकरणों के सभी विनिर्णय, संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता के अधीन होंगे, और उनका परीक्षण उस उच्च न्यायालय की खंड पीठ द्वारा किया जाएगा जिसके प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में संबंधित अधिकरण स्थित है।

हम यहाँ यह भी जोड़ सकते हैं कि विद्यमान व्यवस्था के अधीन, सभी अधिकरणों के विनिर्णयों से संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन प्रत्यक्ष अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में प्रदान की गई हैं। हमारे उपर्युक्त प्रेक्षणों के दृष्टिगत, इस स्थिति में भी संशोधन होगा। हमारे द्वारा ग्रहण किए गए दृष्टिकोण के अनुसार, किसी अधिकरण के विनिर्णय के विरुद्ध कोई अपील संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन प्रत्यक्ष रूप से सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष नहीं होगी; बल्कि व्यथित पक्षकार संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय का आश्रय लेने का अधिकारी होगा और उच्च न्यायालय की खंड पीठ के विनिर्णय के विरुद्ध व्यथित पक्षकार संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन इस सर्वोच्च न्यायालय का आश्रय ले सकेगा।

अन्य पहलुओं पर आगे बढ़ने से पूर्व, हम इन अधिकरणों की अधिकारितात्मक शक्तियों के संबंध में अपने निष्कर्षों का सार प्रस्तुत कर सकते हैं। अधिकरण उन विषयों की सुनवाई करने के लिए सक्षम हैं जिनमें सांविधिक उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती दी जाती है। तथापि, इस कर्तव्य का निर्वहन करते समय, वे उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय के प्रतिस्थापन के रूप में कार्य नहीं कर सकते, जिन्हें हमारी संवैधानिक व्यवस्था के अधीन विशेष रूप से ऐसा दायित्व सौंपा गया है। इस संबंध में उनका कार्य केवल

अनुपूरक है और अधिकरणों के ऐसे सभी विनिर्णय संबंधित उच्च न्यायालयों की खंड पीठ के समक्ष परीक्षण के अधीन होंगे। परिणामस्वरूप, अधिकरणों को अधीनस्थ विधान तथा नियमों की विधिमान्यता की परीक्षा करने की शक्ति भी प्राप्त होगी। तथापि, अधिकरणों की यह शक्ति एक महत्वपूर्ण अपवाद के अधीन होगी। अधिकरण अपने मूल अधिनियमों की विधिमान्यता से संबंधित किसी भी प्रश्न पर विचार नहीं करेंगे, क्योंकि यह सुस्थापित सिद्धांत है कि किसी अधिनियम से सृजित अधिकरण उसी अधिनियम को असंवैधानिक घोषित नहीं कर सकता। केवल ऐसे मामलों में ही संबंधित उच्च न्यायालय का प्रत्यक्ष रूप से आश्रय लिया जा सकता है। इन अधिकरणों के अन्य सभी विनिर्णय, जो उन मामलों में दिए गए हों जिनका न्यायनिर्णयन करने के लिए वे अपने मूल अधिनियमों के आधार पर विशेष रूप से सशक्त हैं, भी उनके संबंधित उच्च न्यायालयों की खंड पीठ के समक्ष परीक्षण के अधीन होंगे। हम यह भी जोड़ सकते हैं कि जिन विधि-क्षेत्रों के लिए अधिकरणों का गठन किया गया है, उनमें वे प्रथम दृष्टया एकमात्र न्यायालयों के रूप में कार्य करना जारी रखेंगे। इससे हमारा आशय यह है कि वादकारियों के लिए, सांविधिक विधानों की विधिमान्यता को चुनौती देने वाले मामलों में भी (उन मामलों को छोड़कर, जैसा कि उल्लेख किया गया है, जहाँ संबंधित अधिकरण का सृजन करने वाले विधान को ही चुनौती दी जाती है), संबंधित अधिकरण की अधिकारिता की उपेक्षा करते हुए प्रत्यक्ष रूप से उच्च न्यायालयों का आश्रय लेना उपलब्ध नहीं होगा।

तथापि, अधिकरणों के विनिर्णयों को संबंधित उच्च न्यायालयों की खंड पीठ के समक्ष परीक्षणीय बनाए जाने के संबंध में हमारे द्वारा जारी निर्देश भावी प्रभाव से लागू होंगे, अर्थात् वे इसके पश्चात् दिए जाने वाले विनिर्णयों पर लागू होंगे। न्यायिक कार्यवाहियों की पवित्रता

बनाए रखने के लिए, हमने भावी प्रवर्तन के सिद्धांत का आह्वान किया है ताकि पूर्व में दिए जा चुके विनिर्णयों के संबंध में प्रक्रिया को विचलित न किया जाए।

हमें उन व्यक्तियों की क्षमता के प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है जो अधिकरणों में कार्यरत हैं तथा इस प्रश्न पर भी कि उनके ऊपर प्रशासनिक अधीक्षण का प्रयोग कौन करेगा। यह आग्रह किया गया है कि केवल उन्हीं व्यक्तियों को ऐसे अधिकरणों में नियुक्त किया जाना चाहिए जिन्हें न्यायिक अनुभव प्राप्त हो। प्रशासनिक अधिकरणों के मामले में यह इंगित किया गया है कि नियुक्त किए गए प्रशासनिक सदस्यों को ऐसे विवादों का न्यायनिर्णयन करने का बहुत कम अथवा कोई अनुभव नहीं होता; मालीमथ समिति प्रतिवेदन ने उल्लेख किया है कि कभी-कभी भारतीय पुलिस सेवा के पदाधिकारियों को भी इन अधिकरणों में नियुक्त किया गया है। यह कहा गया है कि अधिकरण में अपने अल्प कार्यकाल के दौरान ये प्रशासनिक सदस्य न्यायनिर्णयन में पर्याप्त अनुभव अर्जित नहीं कर पाते और जिन मामलों में वे ऐसी क्षमता प्राप्त भी कर लेते हैं, वह प्रायः उनके कार्यकाल की समाप्ति के ठीक पूर्व होता है। इन कारणों से यह आग्रह किया गया है कि प्रशासनिक अधिकरणों में प्रशासनिक सदस्यों की नियुक्ति बंद कर दी जाए। हमें ऐसे प्रतिपादन को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि इन अधिकरणों की स्थापना इस आधार पर की गई है कि प्रशिक्षित प्रशासकों तथा न्यायिक अनुभव रखने वाले व्यक्तियों से मिलकर बने विशेषज्ञ निकाय, अपने विशिष्ट ज्ञान के कारण, शीघ्र तथा प्रभावी न्याय प्रदान करने के लिए अधिक सक्षम होंगे। यह अपेक्षा की गई थी कि न्यायिक सदस्यों तथा जमीनी स्तर के अनुभव रखने वाले व्यक्तियों का विवेकपूर्ण मिश्रण इस उद्देश्य की

सर्वाधिक पूर्ति करेगा। यह अभिनिर्धारित करना कि अधिकरण में केवल न्यायिक सदस्य ही होने चाहिए, उस सिद्धांत के मूल आधार पर ही प्रहार करेगा जिसके अनुसरण में उनका गठन किया गया है। चूँकि चयन समिति का नेतृत्व अब भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायमूर्ति द्वारा किया जाता है, अतः हमें यह विश्वास करने का कारण है कि समिति यह सुनिश्चित करने का ध्यान रखेगी कि प्रशासनिक सदस्यों का चयन ऐसे व्यक्तियों में से किया जाए जिन्हें ऐसे मामलों से निपटने की कुछ पृष्ठभूमि प्राप्त हो।

यह हमारे संज्ञान में लाया गया है कि इन अधिकरणों के अकुशलतापूर्वक कार्य करने का एक कारण यह है कि कोई ऐसी प्राधिकारी नहीं है जिस पर उनके प्रशासनिक आवश्यकताओं के पर्यवेक्षण तथा पूर्ति का दायित्व आरोपित हो। इस उद्देश्य से यह सुझाव दिया गया है कि अधिकरणों को उन उच्च न्यायालयों की पर्यवेक्षी अधिकारिता के अधीन कर दिया जाए जिनके प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के भीतर वे स्थित हैं। तथापि, हमारा मत है कि यह समस्या के समाधान का सर्वोत्तम उपाय नहीं हो सकता। हम यह नहीं मानते कि हमारी संवैधानिक योजना यह अपेक्षा करती है कि सभी न्यायनिर्णायक निकाय, जो उच्च न्यायालयों के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के भीतर आते हैं, उनकी पर्यवेक्षी अधिकारिता के अधीन हों। यदि उद्देश्य उच्च न्यायालयों को उनके दुष्कर भार से मुक्त करना है, तो उनके पर्यवेक्षी कार्यों में वृद्धि करना किसी भी प्रकार से उनकी सहायता नहीं कर सकता। वर्तमान स्थिति यह है कि विभिन्न अधिनियमों के अधीन गठित विभिन्न अधिकरणों का प्रशासन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के विभिन्न प्रशासनिक विभागों द्वारा किया जाता है। समस्या इस तथ्य से और जटिल हो जाती है कि कुछ अधिकरण केन्द्रीय विधानों के अनुसरण में सृजित किए गए हैं

तथा कुछ अन्य राज्य विधानों द्वारा सृजित किए गए हैं। तथापि, संसदीय विधानों द्वारा सृजित अधिकरणों के मामले में भी प्रशासन में एकरूपता नहीं है। हमारा मत है कि जब तक ऐसे सभी अधिकरणों के प्रशासन के लिए एक पूर्णतः स्वतंत्र अभिकरण स्थापित नहीं किया जा सकता, तब तक यह वांछनीय है कि ऐसे सभी अधिकरण, जहाँ तक संभव हो, एक ही नोडल मंत्रालय के अधीन हों, जो इन अधिकरणों के कार्यकरण का पर्यवेक्षण करने की स्थिति में हो। अनेक कारणों से वह मंत्रालय उपयुक्त रूप से विधि मंत्रालय होना चाहिए। मंत्रालय के लिए यह खुला होगा कि वह अपने स्तर पर अधिकरणों के कार्यकरण के पर्यवेक्षण के लिए एक स्वतंत्र पर्यवेक्षी निकाय नियुक्त करे। इससे यह सुनिश्चित होगा कि यदि किसी कारणवश अधिकरण का अध्यक्ष अथवा सभापति अधिकरण के कार्यकरण में पर्याप्त रुचि लेने में असमर्थ हो, तो संपूर्ण व्यवस्था शिथिल न पड़ जाए और न्याय का अंतिम उपभोक्ता कष्ट न उठाए। हमारे मत में, एकल छत्र संगठन का सृजन वर्तमान व्यवस्था की अनेक विकृतियों को दूर कर देगा। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय तथा राज्य स्तरों पर पृथक छत्र संगठन भी स्थापित किए जा सकते हैं। ऐसी पर्यवेक्षी प्राधिकारी को यह सुनिश्चित करने का प्रयास करना चाहिए कि ऐसे सभी अधिकरणों के सदस्यों की स्वतंत्रता बनाए रखी जाए। उस सीमा तक, अधिकरणों के सदस्यों के चयन की प्रक्रिया, अधिकरणों के कार्यकरण के लिए निधियों के आवंटन की पद्धति तथा अन्य सभी परिणामी विवरणों को स्पष्ट रूप से विनिर्दिष्ट किया जाना होगा।

अधिकरणों में नियुक्तियों तथा उनके प्रशासनिक कार्यों के पर्यवेक्षण के संबंध में हमारे द्वारा दिए गए सुझावों पर उन व्यक्तियों द्वारा विस्तार से विचार किया जाना आवश्यक है जिन्हें इस संबंध में नीति-निर्माण का दायित्व सौंपा गया है। उस निकाय को इस विषय में

एल.सी.आई. तथा मालीमथ समिति जैसे विशेषज्ञ निकायों की टिप्पणियों को भी ध्यान में रखना होगा। अतः हम संस्तुति करते हैं कि भारत संघ इस संबंध में कार्रवाई प्रारंभ करे तथा सभी संबंधित पक्षों से परामर्श करने के पश्चात् इन सभी अधिकरणों को एक ही नोडल विभाग के अधीन रखे, अधिमानतः विधि विभाग के अधीन।

चूँकि हमने अधिनियम की धारा 5(6) की संवैधानिक वैधता के प्रश्न का विस्तार से विश्लेषण किया है, अतः अब हम इस पहलू पर अपना मत व्यक्त कर सकते हैं। यद्यपि *डॉ. महाबल राम के वाद* में इस उपबंध की विधिमान्यता प्रश्नगत नहीं थी, तथापि हमारा मत है कि उस वाद में अपनाया गया दृष्टिकोण, जिसका प्रासंगिक अंश इस विनिर्णय के प्रथम भाग में उद्धृत किया जा चुका है, सही है, क्योंकि वह उस प्रकार का सामंजस्यपूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है जिसमें धारा 5(2) तथा धारा 5(6) एक साथ कार्य कर सकती हैं। हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जहाँ संविधान के संबंध में किसी सांविधिक उपबंध अथवा नियम की व्याख्या से संबंधित कोई प्रश्न प्रशासनिक अधिकरण की एकल सदस्यीय पीठ के विचारार्थ उत्पन्न होता है, वहाँ धारा 5(6) का परन्तुक स्वतः लागू होगा और संबंधित अध्यक्ष अथवा सदस्य उस विषय को कम-से-कम दो सदस्यों वाली पीठ को संदर्भित करेगा, जिनमें से एक न्यायिक सदस्य होना अनिवार्य होगा। इससे यह सुनिश्चित होगा कि किसी सांविधिक उपबंध अथवा नियम की विधिमान्यता से संबंधित प्रश्न कभी भी एकल सदस्यीय पीठ अथवा ऐसी पीठ के समक्ष न्यायनिर्णयन के लिए उत्पन्न नहीं होंगे जिसमें कोई न्यायिक सदस्य सम्मिलित न हो। इस प्रकार व्याख्यायित किए जाने पर, धारा 5(6) अब असंवैधानिकता के आरोपों के प्रति संवेदनशील नहीं रहेगी।

हमारे द्वारा अपनाए गए तर्क के आलोक में, हम अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 323ए के खंड (2)(डी) तथा अनुच्छेद 323बी के खंड (3)(डी), जहाँ तक वे संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय की अधिकारिता का अपवर्जन करते हैं, असंवैधानिक हैं। अधिनियम की धारा 28 तथा अनुच्छेद 323ए तथा 323बी के अधीन अधिनियमित अन्य सभी विधानों में निहित "अधिकारिता का अपवर्जन" उपबंध भी उसी सीमा तक असंवैधानिक होंगे। संविधान के अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालयों तथा संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय को प्रदत्त अधिकारिता हमारे संविधान की अक्षुण्ण मूल संरचना का भाग है। यद्यपि इस अधिकारिता का अपवर्जन नहीं किया जा सकता, तथापि अन्य न्यायालय तथा अधिकरण संविधान के अनुच्छेद 226/227 तथा 32 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के निर्वहन में अनुपूरक भूमिका का निर्वहन कर सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 323ए तथा अनुच्छेद 323बी के अधीन सृजित अधिकरण सांविधिक उपबंधों तथा नियमों की संवैधानिक वैधता की परीक्षा करने की क्षमता रखते हैं। तथापि, इन अधिकरणों के सभी विनिर्णय उस उच्च न्यायालय की खंड पीठ के समक्ष परीक्षण के अधीन होंगे जिसके क्षेत्राधिकार में संबंधित अधिकरण स्थित है। फिर भी, अधिकरण उन विधि-क्षेत्रों के संबंध में, जिनके लिए उनका गठन किया गया है, प्रथम दृष्टया न्यायालयों के रूप में कार्य करते रहेंगे। अतः वादकारियों के लिए, सांविधिक विधानों की विधिमान्यता को चुनौती देने वाले मामलों में भी (उन मामलों को छोड़कर जहाँ संबंधित अधिकरण का सृजन करने वाले विधान को ही चुनौती दी जाती है), संबंधित अधिकरण की अधिकारिता की उपेक्षा करते हुए प्रत्यक्ष रूप से उच्च न्यायालयों

का आश्रय लेना उपलब्ध नहीं होगा। अधिनियम की धारा 5(6) वैध तथा संवैधानिक है और उसकी व्याख्या उसी प्रकार की जानी चाहिए जैसा हमने इंगित किया है।

अब इन सभी मामलों को एक खंड पीठ के समक्ष सूचीबद्ध किया जा सकता है ताकि इस विनिर्णय में निहित प्रेक्षणों के आलोक में उनका उनके व्यक्तिगत तथ्यों के आधार पर निर्णय किया जा सके।

आर.पी. मामले निस्तारित।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।